वैदिक साहित्य सदन ग्रन्थमाला—पुष्प तीन

वैदिक-स्वरित-मीमांसा

लेखक

डॉ० व्रजबिहारी चौबे

एम० ए०, पीएच्० डी०, साहित्यरत्न

प्राध्यापक, विश्वेश्वरानन्द संस्थान,

पंजाब विश्वविद्यालय, होशियारपुर (पंजाब)

प्रकाशक

वैदिक साहित्य सदन, होशियारपुर

१९७२

वैदिक साहित्य सदन ग्रन्थमाला—पुष्प तीन

वैदिक-स्वरित-मीमांसा



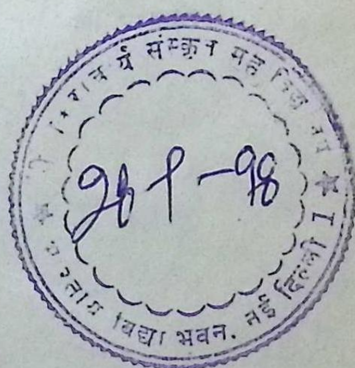
लेखक

डॉ० व्रजबिहारी चौबे

एम० ए०, पीएच्० डी०, साहित्यरत्न

प्राध्यापक, विश्वेश्वरानन्द संस्थान,

पंजाब विश्वविद्यालय, होशियारपुर (पंजाब)



प्रकाशक

वैदिक साहित्य सदन, होशियारपुर

१९७२

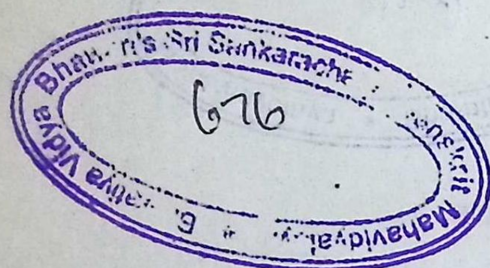
प्रकाशक :

जनार्दन चौबे

वैदिक साहित्य सदन,

बहादुरपुर चौक, होशियारपुर,

(पंजाब, भारत) ।



प्रथम संस्करण : मई १९७२

मुद्रित प्रतियां : ११००

मूल्य : [redacted]

वैदिक साहित्य प्रकाशन, होशि

संशोधित मूल्य 30/-

मुद्रक :

देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान प्रेस,

साधु आश्रम, होशियारपुर

(पंजाब, भारत) ।

प्राक्कथन

भाषा भावों की अभिव्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। सृष्टि के शैशव काल में मानव भाषा-ज्ञान से शून्य था। वह अपने मनोभावों को संकेतों और इशारों से व्यक्त किया करता था। किन्तु कालान्तर में उसने अनुभव किया कि संकेतों और इशारों से मनोभावों की यथार्थ अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, उनकी कुछ सीमायें हैं। उसने संकेतो और इशारों के स्थान पर विशिष्ट ध्वनियों का प्रयोग करना शुरु किया। जिस दिन उसने अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिये विशिष्ट ध्वनियों का प्रयोग करना शुरु किया होगा उस दिन उसने महसूस किया होगा कि उसका जीवन सृष्टि के अन्य प्राणियों के जीवन से विशिष्ट है। उसने वाणी को ईश्वर का वरदान और एक दिव्य शक्ति समझा। बहुत दिनों तक वह उस दिव्य शक्ति वाणी का व्यवहार ही करता रहा, उसके विश्लेषण में प्रवृत्त नहीं हुआ। किन्तु मानव की विश्लेषण-प्रधान मनोवृत्ति बहुत देर तक शान्त नहीं रह सकी। उसने भाषा का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना शुरु किया। वाणी कहां से, कैसे और क्यों उत्पन्न होती है, इसके ऊपर चिन्तन करना शुरु किया। वाणी के विषय में इन्हीं मूलभूत प्रश्नों के उत्तर में भाषा-विज्ञान की उत्पति हुई। विश्व के प्राचीनतम वाङ्मय ऋग्वेद में इस प्रकार के प्रश्नों के समाधानों से हम इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि उस प्राचीन काल में भाषा-विषयक अध्ययन प्रचलित हो गया था।

वर्ण, शब्द और वाक्य भाषा के संघटक तत्त्व हैं। वर्णों के संयोग से शब्द का तथा पदों के संयोग से वाक्य का गठन होता है। इस प्रकार प्रत्येक भाषा की प्रथम इकाई वर्ण है। इसीलिए किसी भी भाषा को सीखने के लिए उस भाषा में प्रचलित वर्णों की सर्वप्रथम जानकारी प्राप्त करनी होती है। वर्णों का उच्चारण किस प्रकार किया जायेगा, इस विषय में प्राचीन भाषा-शास्त्रियों ने पर्याप्ति विचार किये थे। वर्णों का उच्चारण जिसकी सहायता से होता है उसको स्वर कहते हैं। स्वर शब्द √स्वृ 'शब्दोपतापयो:' धातु से निष्पन्न होता है। व्यञ्जन स्वत: उच्चरित नहीं हो सकता, उसके साथ उसका स्वर वर्तमान होता है, जो उसको विभिन्न रूपों में उच्चरित कराता है। प्राचीन भारतीय भाषा-वैज्ञानिकों ने प्रत्येक ध्वनि के साथ मिले हुये स्वर-भाग को एक रसायनशास्त्री की भांति अलग करके उपस्थित क्रिया। इस प्रकार अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ए, ओ, ऐ तथा औ स्वर स्पष्ट रूप से सामने आये। इन स्वरों को अक्षर कहा जाता है, क्योंकि इनका कभी

विनाश नहीं होता। सामान्य रूप से वर्णों के उच्चारण का जहां तक सम्बन्ध है, इन्हीं स्वरों की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु इन स्वरों के कुछ अपने धर्म भी हैं, जो धर्मी के ही नाम पर स्वर कहे जाते हैं। ये हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। अ, आ आदि का जो स्वरत्व है वह मूल है और इन अ, आ आदि के विभिन्न टोन में पाया जाने वाला उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित रूप जो स्वर-धर्म है उसका स्वरत्व गौण है। किन्तु उच्चारण के लिये दोनों का समान रूप से महत्व है। इसीलिये प्राचीनकाल में भाषाविज्ञान के उच्च अध्ययन-संस्थान के रूप में जो परिषदें बनी थीं, उनमें इन दोनों का समान रूप से अध्ययन होता था। इन परिषदों में निर्मित प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों के स्वर-विषयक विवेचन से यह बात मालूम होती है कि उस समय स्वरों के उच्चारण पर विशेष जोर दिया जाता था। स्वर, अर्थ को प्रभावित करते हैं या नहीं इसका प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाओं में बहुत कम विवेचन हुआ है। इसका कारण यह है कि शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों का उद्देश्य स्वरों के शुद्ध उच्चारण का ढंग बताना था। ये प्रातिशाख्य तथा शिक्षा-ग्रन्थ प्राचीन स्वरशास्त्र के ऊपर प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। इनमें स्वरों के उच्चारण के विषय में प्राचीन आचार्यों में जो मतभेद था, उसका भी सम्यक् रूप से प्रतिपादन किया गया है। इनमें प्राचीन वैदिक भाषा और तत्कालीन लौकिक भाषा के स्वर-विषयक विवेचन में तुलनात्मक भाषाविज्ञान का रूप देखा जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में स्वरशास्त्र भाषाशास्त्र का ही एक अंग था।

स्वरशास्त्र भाषाशास्त्र का एक अंग था, इसलिये यह स्वाभाविक था कि भाषा तत्त्व-चिन्तकों का ध्यान स्वर और अर्थ के सम्बन्ध की ओर आकृष्ट हो। क्या उदात्त अनुदात्तादि स्वर उच्चारण के लिये ही हैं, या इनका पद या वाक्य के अर्थ-निर्धारण में भी उपयोग है, इस विषय की ओर वैयाकरणों का ध्यान गया। वैयाकरणों ने स्वरों के उच्चारण पर उतना जोर नहीं दिया जितना अर्थ के साथ उनका सम्बन्ध तथा पद में उनकी स्थिति का ज्ञान कराने पर जोर दिया। उदात्त का अर्थ-निर्धारण में महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण किस पद में उदात्त की स्थिति कहां होगी, इस प्रकार का ज्ञान कराने के लिये स्वर-नियमों का ही विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया। इसका कारण यह था कि व्याकरण पद के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये प्रवृत्त हुआ था और पद के स्वरूप-ज्ञान के लिये स्वरों का ज्ञान आवश्यक था। पतञ्जलिने व्याकरण-शास्त्र के प्रयोजन का उल्लेख करते हुये यह बताया है कि व्याकरण-शास्त्र का ज्ञाता ही स्वर की सहायता से पद के स्वरूप को बता सकता है (महा०, पस्प०)। प्रातिशाख्यकारों तथा शिक्षाकारों ने स्वरशास्त्र को जो प्रधानता दी थी वह वैयाकरणों ने नहीं दी। उन्होंने स्वरशास्त्र को व्याकरण का एक

सहायक अङ्ग माना। पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि आदि जितने वैयाकरण हुए, उन्होंने अपने व्याकरण-ग्रन्थों के अन्तर्गत ही स्वरों का विवेचन किया, स्वरशास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ नहीं लिखे। पाणिनि तथा कात्यायन ने स्वर-विवेचन में व्याकरण की ही तरह सूत्रात्मक शैली का प्रयोग किया। किन्तु पतञ्जलि ने उन स्वर-सूत्रों के भाष्य में स्वरों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया और उनके उदाहरण भी प्रस्तुत किये। ७वीं सदी में जयादित्य और वामन ने 'काशिका' नामक अपने ग्रन्थ में महाभाष्यकार की ही परम्परा का अनुसरण किया। उन्होंने स्वर-सूत्रों के व्याख्यान में स्वर-विषयक विवेचन को आगे बढ़ाया तथा अनेक समस्यायें उपस्थित कीं और उनके समाधान भी प्रस्तुत किये। आगे चलकर 'महाभाष्य' तथा 'काशिका' के ऊपर जो वृत्तियां या भाष्य लिखे गये उनमें स्वरों का विवेचन हुआ, किन्तु स्वरशास्त्र को प्रधानता नहीं मिली। वेद-भाष्यकारों ने भी पाणिनीय-प्रक्रिया का ही अनुसरण किया और पद में उदात्त तथा अनुदात्त की स्थिति के विवेचन में ही अपनी कृतकृत्यता समझी। वेद-भाष्यकारों में केवल एक व्यक्ति वेंकटमाधव था जिसने स्वरों का अर्थविज्ञान (Semantics) की दृष्टि से शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया। उसने 'ऋगर्थदीपिका' नामक ऋग्वेद के भाष्य में प्रथमाष्टक के प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में विभिन्न प्रकार के पदों में स्वर का सूक्ष्म रूप से बिवेचन किया। वेदार्थ के लिये स्वर का ज्ञान अत्यावश्यक हैं, इस तथ्य का उसने सम्यक् प्रकार से प्रतिपादन किया।

'काशिका' के समय तक लौकिक भाषा में भी उदात्त-अनुदात्तादि स्वरों का प्रयोग होता था, यह बात 'काशिका' के कतिपय उदाहरणों को देखने से ज्ञात होती है। प्रसिद्ध काव्यशास्त्री आचार्य भरत ने अपने 'नाटयशास्त्र' (१७.११०) में विभिन्न रसों की निष्पत्ति में उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों की उपयोगिता स्पष्ट रूप से स्वीकार की है। किन्तु आगे चलकर सिद्धान्त रूप में यह मान लिया गया कि स्वर केवल वैदिक भाषा में ही होते हैं, लौकिक भाषा में उनका कोई स्थान नहीं। अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जना-रूप शब्द-शक्तियों, तात्पर्य रूप वाक्य-शक्ति तथा श्लेष, यमक आदि अलंकारों के मूल में स्वरों की स्थिति थी, किन्तु काव्यशास्त्रियों ने उनकी स्वतन्त्र सत्ता के लिये काव्य में स्वरों की स्थिति का निषेध कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वरशास्त्र का अध्ययन जो प्रचलित भाषाओं के सन्दर्भ में भी किया जाता था, वह समाप्त हो गया। आगे चलकर व्याकरण के क्षेत्र से भी इसको निष्कासन मिला, क्योंकि व्याकरण तो सभी प्रचलित भाषाओं को आधार बना सकता था। सम्भवतः स्वरशास्त्र को व्याकरण से पृथक् करने के लिये ही भट्टोजि दीक्षित ने पाणिनि के स्वरविषयक सूत्रों को 'वैदिक-स्वर-प्रक्रिया'

के नाम से अलग स्थान दिया। स्वर-प्रक्रिया के साथ प्रयुक्त 'वैदिक' यह विशेषण प्रकारान्तर से यही बताता है कि भट्टोजि की दृष्टि में स्वर केवल वेद में ही प्रयुक्त होता है, लौकिक भाषाओं में नहीं। नरसिंह सूरि विरचित 'स्वर-मञ्जरी' तथा श्रीनिवासयज्वाकृत 'स्वर-सिद्धान्त-चन्द्रिका' में भी इसी आदर्श को सामने रखकर स्वरों का विवेचन किया गया है।

आधुनिक भाषाविज्ञान में भी स्वरशास्त्र का कोई स्थान नहीं। प्रश्न यह है कि क्या उदात्तादि स्वरों का सम्बन्ध प्रचलित भाषा से नहीं ? यदि विचार किया जाय तो मालूम होगा कि कोई भी भाषा स्वर-धर्मों के बिना नहीं रह सकती, भले हम उनका अनुभव न करें। जिस प्रकार भाषाविज्ञान में विभिन्न ध्वनियों तथा ध्वनि-परिवर्तनों का ध्वनि-यन्त्रों की सहायता से अध्ययन किया जाता है उसी प्रकार उदात्तादि स्वरों का भी अध्ययन किया जा सकता है। आज स्वतन्त्र रूप से न सही, भाषाविज्ञान के अन्तर्गत ही स्वरविज्ञान (Accentology) और स्वराङ्कन-विज्ञान (Accentography) को भी मान्यता मिलनी चाहिये और इनके अध्ययन में प्रवृत्ति होनी चाहिये। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कतिपय विद्वानों ने इस दिशा में कार्य करना शुरु कर दिया है। जे० इ० ग्रे के 'An Analysis of Ṛgvedic Recitation' तथा 'An Analysis of Nambudiri Ṛgvedic recitation and the Vedic Accent' शीर्षक लेखों का इस प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है (Bulletin of the School of Oriental and African Studies, London, vol. xxii, parts 1 and 3, 1959)।

उदात्त और अनुदात्त की अपेक्षा स्वरित के स्वरूप तथा उच्चारण के विषय में बड़ी अनिश्चितता है। इस अनिश्चितता के कारण ही विद्वानों ने इसके ऊपर बहुत कम लिखा है और जो कुछ लिखा है वह भी विवादग्रस्त है। प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाओं में स्वरित का उदात्त तथा अनुदात्त की अपेक्षा विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। उस विवेचन से ऐसा मालूम होता है कि स्वरों के उच्चारण में स्वरित का महत्वपूर्ण स्थान था। स्वरों में स्वरित की महत्वपूर्ण स्थिति, किन्तु उसके विषय में अपेक्षाकृत अत्यधिक अनिश्चितता को देखकर ही मैंने यह विचार किया था कि इस विषय पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखूं। आज वह मेरा विचार 'वैदिक-स्वरित-मीमांसा' के रूप में साकार हुआ है। इसे विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत करने में अपार प्रसन्नता का अनुभव करता हूं। वैदिक स्वरित के ऊपर स्वतन्त्र रूप से अभी तक कोई पुस्तक नहीं लिखी गई थी। 'वैदिक-स्वरित-मीमांसा' प्रथम रचना है, जिसमें स्वतन्त्र रूप से वैदिक-स्वरित का विस्तारपूर्वक वैज्ञानिक ढंग से हिन्दी भाषा में विवेचन प्रस्तुत किया गया है। कई मित्रों ने इस पुस्तक को पहले अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत करने का सुझाव दिया था, ताकि विदेशी विद्वानों तक भी

यह पहुंच सके। किन्तु मैंने सोचा कि अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दी में इस प्रकार के अत्यधिक टेक्नीकल विषयों पर मौलिक रूप से ग्रन्थ लिखना अधिक गौरव की बात है। यदि बाद में अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद करता तो वह तो अनुवाद ही होता। अब रही विदेशी विद्वानों तक इसकी पहुंच की बात तो उसके लिये शीघ्र ही इसका अंग्रेजी-रूपान्तर प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूंगा।

इस पुस्तक में पांच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में स्वरित के स्वरूप का विवेचन किया गया है। इस अध्याय में मैंने यह मान्यता प्रस्थापित की है कि मुख्य स्वरितत्व स्वतन्त्र स्वरित का है; आश्रित या सामान्य स्वरित का स्वरितत्व मुख्य नहीं, सादृश्य पर आधारित है। पाणिनि ने जो स्वरित की परिभाषा दी है वह स्वतन्त्र स्वरित को ही मुख्य स्वरित मानकर दी गई है। द्वितीय अध्याय में स्वरित के भेदों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। स्वरितों को मुख्य दो वर्गों में रखा गया है—एक, स्वतन्त्र स्वरित और दूसरा, सामान्य स्वरित। स्वतन्त्र स्वरित के अन्तर्गत जात्य, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट तथा अभिनिहित स्वरितों का तथा सामान्य स्वरित के अन्तर्गत पादवृत्त, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, ताथाभाव्य और प्रातिहत स्वरितों का विवेचन है। इन विभिन्न स्वरितों में से किन-किन की सत्ता किन-किन वेदों की किन-किन शाखाओं में थी, इसका भी उल्लेख यहां किया गया है। इस विषय में प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाओं को प्रमाण रूप में उद्धृत किया गया है। तृतीय अध्याय में स्वरित के उच्चारण की मीमांसा की गई है। शुक्ल यजुर्वेदियों में स्वरों के उच्चारण के साथ-साथ हस्त-प्रचालन की परम्परा भी प्रचलित है। 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' में इसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। इस अध्याय में स्वरित के उच्चारण में हस्त-प्रचालन किस प्रकार किया जायेगा, इसका भी उल्लेख किया गया है। चतुर्थ अध्याय में कम्प स्वर का विवेचन किया गया है। कम्प स्वर उदात्तस्वरितपर स्वतन्त्र स्वरित के उत्तरवर्ती अनुदात्तांश का ही नाम है। कम्प किन-किन अवस्थाओं में होता है, इसको समझाने के लिये रेखाचित्र का भी प्रयोग किया गया है। कम्प के भेद के रूप में उदात्त कम्प, ह्रस्व कम्प, दीर्घ कम्प, ताथाभाव्य कम्प, तथा शिवकम्प का उल्लेख शिक्षाओं में किया गया है। शिवकम्प का क्या अभिप्राय है, यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका है। कम्प स्वर के भेद के रूप में कुछ नई संज्ञाओं—जात्यकम्प, क्षैप्र कम्प, प्रश्लिष्ट कम्प, अभिनिहित कम्प, दीर्घ-जात्य-कम्प, स्वरितदीर्घ-जात्य-कम्प, उदात्त-जात्य-कम्प आदि—का प्रयोग मैंने किया है। पञ्चम अध्याय में वैदिक वाङ्मय में स्वरिताङ्कन के विविध रूपों का उल्लेख किया गया है। वेद की विभिन्न शाखाओं की संहिताओं में स्वरिताङ्कन की विविधता दिखाई पड़ती है। जब तक इन स्वर-चिह्नों का ज्ञान न हो तब तक पाठक को यह पता नहीं

चल सकता कि अमुक वर्ण उदात्त है या स्वरित, क्योंकि एक शाखा में जो उदात्त का चिह्न है, वही दूसरी शाखा में स्वरित का चिह्न है। इन स्वर-चिह्नों का स्वर के स्वरूप-निर्धारण में भी कोई उपयोग है या नहीं, इसका भी विवेचन इस अध्याय में किया गया है। जहां स्वरित को वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से चिह्नित किया जाता है वहां यह समझना चाहिए कि उस शाखा में स्वरित सर्वोच्च स्वर है, तथा जिसमें उदात्त को वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से चिह्नित किया जाता है, उसमें उदात्त को सर्वोच्च स्वर माना जाता है। स्वर-चिह्नों का अध्ययन भी स्वरों के स्वरूप-ज्ञान में सहायक हो सकता है।

पुस्तक में जात्य, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट तथा अभिनिहित स्वरितों के लिये सामूहिक रूप से 'स्वतन्त्र स्वरित' पद का प्रयोग किया गया है। ऐसा सुविधा के लिये किया गया है। क्षैप्र, प्रश्लिष्ट तथा अभिनिहित स्वरित संधिज होते हैं, किन्तु सत्ता में आ जाने पर नित्य स्वरित के ही धर्मों—अनुदात्तपूर्वत्व या अपूर्वत्व तथा उदात्तस्वरित-पर होने पर कम्पत्व—का पालन करते हैं, इसलिये इनको भी एक ही वर्ग—स्वतन्त्र स्वरित—के अन्तर्गत रखने में कोई बाधा नहीं। जहां पर जात्य, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट अथवा अभिनिहित की किसी ऐसी विशेषता का उल्लेख करना हो जो दूसरे में नहीं, वहां स्वतन्त्र स्वरित शब्द का प्रयोग न कर उस विशेष स्वरित का ही कथन किया गया है।

इस पुस्तक को लिखने में जिन विद्वानों एवं मित्रों से जिस किसी भी प्रकार की सहायता अथवा प्रेरणा मुझे मिली है, उनके प्रति आभार प्रकट करना मेरा परम कर्तव्य है। सर्वप्रथम में श्रद्धेय डॉ० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का उनके सौजन्य के लिये आभारी हूँ, जो इस कार्य को पूर्ण करने के लिये नित्य प्रोत्साहित करते रहे। श्रद्धास्पद स्वर्गीय पं० कान्तानाथ शास्त्री तेलंग के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने स्वरित तथा कम्प से सम्बन्धित कई समस्याओं की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया था। स्वरित तथा कम्प का उच्चारण दक्षिण में किस प्रकार किया जाता है, इसकी जानकारी मुझे डॉ० बी० आर० शर्मा से प्राप्त हुई। इस विषय में उन्होंने कई अन्य सुझाव भी दिये। एतदर्थ मैं उनका ऋणी हूं।

विद्वान् पाठकों से मेरा नम्र निवेदन है कि इस पुस्तक में उनको यदि कोई मुद्रण-सम्बन्धी या सिद्धान्त-सम्बन्धी त्रुटि दिखाई पड़े तो उनकी ओर वे मेरा ध्यान दिलायें। मैं उनका विशेष रूप से आभारी रहूंगा।

व्रजबिहारी चौबे

परशुराम जयन्ती,

१५ मई, १९७२

विषय-सूची



संक्षेप-सूची

अ० प्रा०	=	अथर्ववेद प्रातिशाख्य
अ० वे०	=	अथर्ववेद
उप० सू०	=	उपलेखसूत्र
उप० सू० भा०	=	उपलेखसूत्र-भाष्य
ऋ० प्रा०	=	ऋग्वेद प्रातिशाख्य
ऋ० प्रा० भा०	=	ऋग्वेद प्रातिशाख्यभाष्य (उवट)
ऋ० वे०	=	ऋग्वेद
ऋ० वे० क्र०	=	ऋग्वेद क्रमपाठ
ऋ० वे० प०	=	ऋग्वेद पदपाठ
कपि० सं०	=	कपिष्ठलकठ-संहिता
का० न्या०	=	काशिका पर न्यास टीका
का० प०	=	काशिका पर पदमञ्जरी टीका
का० श०	=	काण्व शतपथ
का० सं०	=	काण्व संहिता
काठ० सं०	=	काठक-संहिता
कौ० शि०	=	कौहलि शिक्षा
खि०	=	खिलसूक्त
तै० आ०	=	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० प्रा०	=	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तै० प्रा० त्रि० र०	=	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर त्रिभाष्यरत्न
तै० प्रा० वै०	=	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर वैदिकाभरण
तै० सं०	=	तैत्तिरीय संहिता
तै० सं० प०	=	तैत्तिरीय-संहिता-पदपाठ
त्रि० र०	=	त्रिभाष्यरत्न
ना० शि०	=	नारदीय शिक्षा

संक्षेप-सूची

ना० शि० टी०	=	नारदीय शिक्षा-टीका
पा०	=	पाणिनीय अष्टाध्यायी
पा० का०	=	पाणिनीय अष्टाध्यायी पर काशिका
पा० म०	=	पाणिनीय अष्टाध्यायी पर महाभाष्य
पा० वा०	=	पाणिनीय सूत्रों पर वार्तिक
पा० सि० कौ०	=	पाणिनीय सूत्रों पर सिद्धान्त कौमुदी
पै० अ०	=	पैप्पलाद अथर्ववेद
पै० सं०	=	पैप्पलाद अथर्ववेद संहिता
प्रति० परि०	=	प्रतिज्ञा परिशिष्ट सूत्र
भा० परि० सू०	=	भाषिक परिशिष्ट सूत्र
भा० परि० सू० भा०	=	भाषिक परिशिष्ट सूत्र-भाष्य
मा० शि०	=	माण्डूकी शिक्षा
मै० सं०	=	मैत्रायणीय-संहिता
या० शि०	=	याज्ञवल्क्य शिक्षा
व० र० प्र० शि०	=	वर्णरत्न प्रदीप शिक्षा
वा० प्रा०	=	वाजसनेयि प्रातिशाख्य
वा० प्रा० भा०	=	वाजसनेयि प्रातिशाख्य-भाष्य
वा० सं०	=	वाजसनेयि-संहिता
श० ब्रा०	=	शतपथ ब्राह्मण
शु० य० सं०	=	शुक्ल यजुर्वेद-संहिता
शु० य० प०	=	शुक्ल यजुर्वेद-पदपाठ
शै० शि०	=	शैशिरीय शिक्षा
शौ० शि०	=	शौनकीय शिक्षा
सा० वे०	=	सामवेद
सा० वे० प०	=	सामवेद पदपाठ
सि० कौ० बा० मनो०	=	सिद्धान्त कौमुदी बालमनोरमा
स्व० सि० च०	=	स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका

अध्याय १

स्वरित का स्वरूप

वैदिक वाङ्मय में उदात्त तथा अनुदात्त स्वरों के साथ स्वरित भी एक स्वतन्त्र स्वर के रूप में प्रयुक्त होता है। प्रातिशाख्यों तथा व्याकरण ग्रन्थों में इसे उदात्त तथा अनुदात्त का समाहार[1] बताया गया है। किन्तु उदात्त एवं अनुदात्त के समाहार का अभिप्राय क्या है, यह एक जटिल प्रश्न है।

वैदिक भाषा तथा लोकभाषा में ऐसा कोई अच् (स्वर) नहीं जो उदात्त और अनुदात्त का समाहार हो, जिसे हम कह सकें कि अमुक अच् (स्वर) स्वरित है। पुनश्च ऐसा कोई अच् नहीं जिसको सदा उदात्त या अनुदात्त कहा जाय। एक ही वर्ण उदात्त भी हो सकता है और वही अनुदात्त भी। इसीलिये उदात्त तथा अनुदात्त को वर्णों का धर्म माना गया है। काशिकाकार उदात्त एवं अनुदात्त इन वर्ण-धर्मों के समाहार को स्वरित मानते हैं[2], दो अचों के समाहार को नहीं। भट्टोजि दीक्षित भी उदात्तत्व तथा अनुदात्तत्व इन वर्ण-धर्मों के समाहार को

---

१. एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः। ऋ० प्रा० ३.३।

समाहारः स्वरितः। त० प्रा० १.४०; पा० १.२.३१।

उभयवान्स्वरितः। वा० प्रा० १.११०।

आभ्यां प्रयत्नाभ्यां समाहारीभूताभ्यां यः स्वर उच्चार्यते स स्वरितसंज्ञो भवति, यथा धान्यमसि वैष्णव्यौ स्थः। उवट, वा० प्रा० भा० १.११०।

तयोरुदात्तानुदात्तयोर्यः समाहारः स स्वरित उच्यते। यथा—तेंऽब्रुवन्। समाह्रियत इति समाहारः। तयोर्मेलनजन्यः स्वरः स्वरित इत्यर्थः।

तैं० प्रा० त्रि० र० १.४०।

एकाक्षर समावेशे सति पूर्वयोरुदात्तानुदात्तयोः स्वरितः स्वरो निष्पद्यते।

उवट, ऋ प्रा० भा० ३.३।

२. उदात्तानुदात्तस्वरसमाहारो योऽच् स स्वरितसंज्ञो भवति। सामर्थ्याच्चात्र लोकवेदयोः प्रसिद्धौ गुणावेव वर्णधर्मावुदात्तानुदात्तौ गृह्येते नाचौ। तौ समाह्रियेते यस्मिन्नचि तस्य स्वरित इत्येषा संज्ञा विधीयते—शिक्यम्, कन्या, क्व।

पा० का० १.२.३१।

स्वरित मानते हैं।[१] 'समाहारः' पद की व्याख्या में आचार्य हरदत्त का कथन है कि समाहार शब्द का अर्थ विप्रकीर्ण वस्तुओं का एकत्र राशीकरण या दो धर्मों का एकत्र योग भी किया जाता है, किन्तु स्वरित के विषय में यह अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि वर्णों के धर्म उदात्त एवं अनुदात्त का समुदाय रूप कोई अच् (स्वर) नहीं होता।[२] 'बाल-मनोरमा'कार का भी कहना है कि 'समाहारः स्वरितः', इस सूत्र का यह अर्थ प्रतीत होता है कि उदात्त एवं अनुदात्त का एक समाह्रियमाण अच् स्वरित होता है। अगर उदात्त और अनुदात्त इन दोनों वर्णों का समाहार स्वरित है, तो समाह्रियमाण दोनों वर्णों की स्वरित संज्ञा होगी, एक अच् की नहीं। इसलिये 'समाहारः स्वरितः' का उदात्त तथा अनुदात्त का समाहार रूप प्रतीत होने वाला जो अर्थ है, वह ठीक नहीं। उदात्तत्व और अनुदात्तत्व वर्ण-धर्म जिस अच् में समाहृत हों उस अच् की स्वरित-संज्ञा होती है, अर्थात् वह अच् स्वरित धर्मवान् होता है।[३] श्रीनिवास यज्वा ने 'स्वर सिद्धान्त चन्द्रिका' में यही भाव व्यक्त किया है।[४]

उदात्तत्व और अनुदात्तत्व धर्म का एक अच् में संयोग सर्वत्र स्वरित ही नहीं होता। रथीवं>रथीऽइव (ऋ० वे० ५.८३.३; १०.५१.६); नातारीत् > न अतारीत् (ऋ० वे० १. ३२. ६), एमंसि>आ इमसि

---

१. उदात्तानुदात्तत्वे च वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात्। पा० सि० कौ० १.२.३१ (१३)।

२. समाहाररूपस्याचः क्वचिदप्यसम्भवः सामर्थ्यम्। ननु च समाहरणं समाहारः, विप्रकीर्णानामेकत्र राशीकरणमेकधर्मयोर्योगो वा, यथा पञ्चपूली, षण्णगरी दृष्टेति। तत्र पूर्वो मूर्त्तानामेव, उत्तरस्तु धर्मयोरपि सम्भवति; किं तु अचा सामानाधिकरण्यं न घटते, न हि वर्णधर्मयोरुदात्तानुदात्तयोः समुदायरूपः कश्चिदज् भवतीति। का० पद० १.२.३१।

३. ततश्च उदात्त अनुदात्तश्च अच् समाह्रियमाणः स्वरित इत्यर्थः प्रतीयते। एवं सति वर्णद्वयस्य स्वरितसंज्ञा स्यात् न त्वेकस्य। अतो नैवमर्थः। ...... ततश्च उदात्तत्वानुदात्तत्वयोर्धर्मयोर्यस्मिन्नचि मेलनं सोऽअच् स्वरितसंज्ञक इत्यर्थः। सि० कौ० बा० मनो० १.२.३१ (१३)।

४. उदात्तत्वानुदात्तत्वलक्षणवर्णधर्मसमाहारवानच् स्वरितसंज्ञ इत्यर्थः। स्व० सि० च०, संज्ञाप्रकरण, सू० ३।

(ऋ० वे० १.१.७); पि॒तेव॑>पि॒ताऽइ॑व (ऋ० वे० १.१.९); आदि स्थलों पर उदात्तत्व तथा अनुदात्तत्व धर्मों का संयोग क्रमशः एक अच् 'ई', 'आ', तथा 'ए' में हुआ है, किन्तु यहां स्वरित नहीं हुआ। यहां दोनों का संयोग उदात्तत्व धर्म वाले अच् में हुआ है। प्रातिशाख्यकार तथा पाणिनि इन स्थलों पर उदात्तत्व तथा अनुदात्तत्व धर्मों का समाहार नहीं मानते। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में इसको 'एकीभाव'[1] तथा 'अष्टाध्यायी' में 'एकादेश'[2] कहा गया है। 'समाहार', 'एकीभाव' तथा 'एकादेश' में क्या अन्तर है, इसके ऊपर विचार करना है। आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि ने 'समाहार' शब्द का अर्थ समाहरण किया है।[3] श्रीनिवास यज्वा ने 'स्वर सिद्धान्त चन्द्रिका' में 'समाहार' का अर्थ 'समाहारवान्' किया है।[4] 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में 'समाहार' के लिये 'समावेश'[5] पद का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार 'समाहार' या 'समावेश' का अर्थ दो धर्मों का एक धर्म में विपरिणमन है। इस विपरिणमन में दोनों धर्मों की सत्ता वर्तमान रहती है। ऐसा नहीं होता कि एक धर्म की सत्ता रह जाय

---

१. उदात्तवत्येकीभाव उदात्तं सन्ध्यमक्षरम्। ऋ० प्रा० ३.११।

२. एकादेश उदात्तेनोदात्तः। पा० ८.२.५।

३. समाहारशब्दश्च समाहरणं समाहार इति भावसाधनोऽयं लोके समुदाये रूढः। न चोदात्तानुदात्तात्मकः कश्चिदच्-समुदायः सम्भवतीति। ततश्च संज्ञिनोऽसम्भवात् संज्ञापि न सम्भवतीति यश्चोदयेत् तं प्रत्याह सामर्थ्याच्चेत्यादि। उच्यते चेदमुदात्तानुदात्तसमाहारः स्वरितसंज्ञो भवतीति। न च पारिभाषिकोदात्तानुदात्तसमाहारात्मनोऽचः सम्भवोऽस्ति। तत्र सामर्थ्याल् लोकवेदप्रसिद्धौ यौ धर्मावुदात्तानुदात्तौ तावेव गृह्येते। नाचौ।......नहि लोकप्रसिद्धोदात्तानुदात्तसमाहारात्मकस्याप्यचोऽसम्भवादित्याह तौ समाह्रियेते यस्मिन्नित्यादि। नहि लोकप्रसिद्धोदात्तानुदात्तात्मनोऽच एष संज्ञा विधीयते। कस्य तर्हि ? लोकवेदप्रसिद्धावुदात्तानुदात्तौ समाह्रियेते यस्मिन्नचि तस्य।......समाह्रियेते संहन्येते सहितावुपलभ्येते इत्यर्थः।

का० न्या० १.२.३१।

४. भावे घञन्तात् समाहारशब्दात् अर्शआद्यचि समाहारशब्द इति समाहारवाजनिति लभ्यते। स्व० सि० च०, सू० ३।

५. एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः। ऋ० प्रा० ३.३।

और दूसरे का लोप हो जाय। किन्तु इस विपरिणमन में इतना अवश्य होता है कि दोनों धर्मों के समाहार या समावेश से दोनों के मूल सिद्धान्तों पर ही आश्रित, किन्तु दोनों से भिन्न एक तीसरे ही धर्म का आविर्भाव होता है। जिस प्रकार त्रपु और ताम्र के संयोग से कांस्य की उत्पत्ति होती है, जो त्रपु और ताम्र दोनों पर आधृत है, किन्तु दोनों से भिन्न है, उसी प्रकार उदात्तत्व और अनुदात्तत्व के एकत्र समावेश से उदात्त और अनुदात्त पर ही आधृत, किन्तु इन दोनों से भिन्न स्वरित नामक स्वर की उत्पत्ति होती है।[१] किन्तु, 'एकीभाव' या 'एकादेश' में ऐसी स्थिति नहीं होती। 'समाहार' या 'समावेश' की तरह ही 'एकीभाव' या 'एकादेश' में दो धर्मों का एकत्र संयोग अवश्य होता है, किन्तु इसमें एक धर्म इतना प्रबल होता है कि दूसरे को दबा देता है, उसके अस्तित्व को ही समाप्त कर देता है। इस प्रकार 'एकीभाव' या 'एकादेश' का अर्थ है दोनों धर्मों में से किसी एक का प्रधान होना तथा दूसरे का सबल के सामने अस्तित्व-हीन हो जाना। उदात्त सबल होता है, उसके सामने अन्य स्वर दुर्बल होते हैं। जिस प्रकार बलवान् राजा दुर्बल राजा के राज्य का हरण कर लेता है, उसी प्रकार उदात्त अनुदात्तादि स्वरों को अपने में मिला लेता है,[२] उनकी अलग सत्ता नहीं रह जाती। उदात्त तथा अनुदात्त के 'एकीभाव' में चाहे उदात्त पहले हो या पीछे हो वही प्रबल होता है; अनुदात्त उदात्त के सामने झुक जाता है। उवट ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जिस 'एकीभाव' में पहले या पीछे एक उदात्त हो और दूसरा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित या प्रचय में से कोई हो, उस 'एकीभाव' को 'उदात्तवान् एकीभाव' कहते हैं और उस 'उदात्तवान् एकीभाव' में

---

१. यथा त्रपुताम्रयोः संयोगे सति कांस्यस्य धात्वन्तरस्योत्पत्तिरेवमिहापि द्रष्टव्या। उवट, ऋ० प्रा० भा० ३.५।

२. द्वयोस्तु स्वरयोः सन्धावेकीभावो यदा भवेत्।
उदात्तोऽप्यनुदात्तस्य वशं गच्छति सन्धिषु॥
दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान्नृपः।
स्वरो व्यञ्जनमासाद्य हरते नात्र संशयः॥
मा० शि० ६.२-३।

संध्यक्षर उदात्त धर्म वाला ही होता है।[1] 'अ' या 'आ' के परे अच् होने पर जब गुण या वृद्धि होती है, उसी अवस्था में 'एकादेश' होता है, अन्यथा उदात्त तथा अनुदात्त का 'समाहार' होकर सन्ध्यक्षर स्वरित गुण वाला ही होगा।[2] यह एकादेश दो पदों की सन्धि या एक ही पद में प्रातिपदिक एवं विभक्तिबोधक प्रत्ययों के बीच दिखाई पड़ता है, जैसे—नातारीत्, पितेव, ज्ञातौ, इत्यादि। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के अनुसार उदात्त और अनुदात्त रूप वर्ण-धर्मों के एक अक्षर में समावेश या समाहार होने पर स्वरित स्वर होता है।[3] यह समावेश या समाहार चार ही अवस्थाओं में होता है—

(१) उदात्त धर्मवान् पदान्तीय ह्रस्व 'इ' तथा अनुदात्त धर्मवान् पदादि ह्रस्व 'इ' की सन्धि में, जैसे—दिवि+इव=दिवींव;

(२) उदात्त धर्मवान् पदान्तीय 'इ' या 'उ' के साथ अनुदात्त धर्मवान उत्तर पदादि असमान स्वर की सन्धि में, जैसे—हि+अग्ने=ह्यग्ने, नु+इन्द्र=न्विन्द्र;

(३) उदात्त धर्मवान् पदान्तीय 'ए' या 'ओ' के साथ अनुदात्त धर्मवान् उत्तर पदादि 'अ' की सन्धि में, जैसे—ते+अवर्धन्त=तेऽवर्धन्त, सो+अब्रवीत्=सोऽब्रवीत्।

(४) कन्या, क्व, आदि एकपदों में भी उदात्त अनुदात्त का समाहार ही होता है, एकादेश या एकीभाव नहीं।

'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के अनुसार इन से भिन्न अवस्थाओं में 'एकीभाव' होता है, जहाँ संधिज स्वर उदात्त होता है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' का मत 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के मत से एक अंश में भिन्न है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार उदात्त धर्मवान् पदान्तीय ह्रस्व 'इ' तथा अनुदात्त धर्मवान् पदादि ह्रस्व 'इ' की सन्धि में स्वरों का 'समाहार'

---

१. इदानीं पदान्तपदाद्योः संधावुदात्तानुदात्तस्वरितप्रचितानां बलाबलमाह। यस्मिन्नेकीभावे पूर्वमुत्तरं वोदात्तं भवति इतरस्तु चतुर्णां स्वराणामन्यतमः स उदात्तवानेकीभावः। तस्मिन्नुदात्तवत्येकीभाव उदात्तं सन्ध्यमक्षरं जानीयात्।
उवट, ऋ० प्रा० भा० ३.११।

२. आदचि गुण एकादेशो भवति, उदात्तानुदात्तयोरेकादेशो गुणो भवन् उदात्तो भवति। एवमेकादेशशास्त्रान्तरेऽप्यूह्यम्। उदात्तानुदत्तयोरेकादेश आन्तर्यात् स्वरितः प्रसज्येतेति वचनम्। स्व० सि० च०, सू० ६।

३. एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः। ऋ० प्रा० ३.३।

नहीं होता, बल्कि 'एकादेश' होता है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार उदात्त धर्मवान् ह्रस्व 'उ' तथा उत्तर पदादि अनुदात्त धर्मवान् ह्रस्व 'उ' की सन्धि में 'समाहार' होता है, और यहाँ संधिज स्वर स्वरित होता है।[1] जैसे सु+उद्गाता=सूद्गाता। किन्तु माण्डूकेय नामक आचार्य उदात्त और अनुदात्त की सन्धि में सर्वत्र समाहार ही मानते हैं; इसीलिये उनके मत में सभी प्रश्लिष्ट सन्धियों में उदात्त और अनुदात्त की सन्धि से स्वरित स्वर ही उत्पन्न होता है।[2]

इस प्रकार इतना निश्चित हो जाने पर कि उदात्त और अनुदात्त का 'समाहार' निश्चित रूप से स्वरित होगा तथा उनका 'एकादेश' उदात्त होगा, अब यह विचार करना है कि 'समाहार' में उदात्तांश पहले होता है या अनुदात्तांश, और उसमें कितना अंश उदात्त होता है तथा कितना अंश अनुदात्त। इस विषय में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं कि 'समाहार' में पहले उदात्त होता है बाद में अनुदात्त। पहले अनुदात्त तथा बाद में उदात्त होने पर दोनों का 'एकादेश' हो जायेगा। इसका कारण यह है कि अनुदात्त का उच्चारण वर्णों के उच्चारण स्थान के निम्न भाग से होता है तथा उदात्त का उच्चारण वर्णों के उच्चारण स्थान के ऊर्ध्वभाग से होता है। जब 'एकीभाव' होने वाले अनुदात्त और उदात्त का उच्चारण करते हैं तो अनुदात्त स्वर परवर्ती उदात्त स्वर में इस प्रकार मिल जाता है कि उसका अस्तित्व हो खत्म हो जाता है। इस प्रकार किसी भी अवस्था में अनुदात्त तथा उदात्त का 'समाहार' नहीं हो सकता, इसलिये यहां स्वरित होने की बात हो नहीं उठती।

उदात्त एवं अनुदात्त के 'समाहार' रूप स्वरित में कितना उदात्तांश होता है तथा कितना अनुदात्तांश, इसके ऊपर प्रातिशाख्यकारों तथा प्राचीन वैयाकरणों ने विवेचन किया है। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के अनुसार प्रारम्भ की एक मात्रा का अर्द्धभाग या सम्पूर्ण मात्रा का अर्द्धभाग उदात्त होता है।[3] यहां प्रारम्भ की एक मात्रा के अर्द्धभाग या सम्पूर्ण मात्रा के अर्द्धभाग का जो विकल्प दिया है, उसे 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के भाष्यकार आचार्य उवट व्यवस्थित विकल्प

---

१. ऊभावे प्रश्लिष्टः। तै० प्रा० १०.५।

२. माण्डूकेयस्य सर्वेषु प्रश्लिष्टेषु तथा स्मरेत्। ऋ० प्रा० ३.१४।

३. तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा। ऋ० प्रा० ३.४।

मानते है। उवट के अनुसार अर्द्धमात्राकाल ह्रस्व स्वरित के उदात्तांश में लगता है तथा सम्पूर्ण की अर्द्धमात्रा का काल दीर्घ स्वरित के उदात्तांश के उच्चारण में लगता हैं। चूंकि ह्रस्व स्वरित में एक ही मात्रा होती है, इसलिये उसका अर्द्धभाग उदात्तांश है तथा शेष अर्द्धभाग अनुदात्तांश। दीर्घ स्वरित में दो मात्रायें होती हैं, इसलिये इसका अर्द्धभाग अर्थात् एक मात्रा उदात्तांश तथा अवशिष्ट एक मात्रा अनुदात्तांश होती है। इस प्रकार उवट के मत में प्रारम्भ में सम्पूर्ण मात्रा का अर्द्धभाग, चाहे स्वरित ह्रस्व हो चाहे दीर्घ, उदात्तांश होता है और शेष अर्द्धभाग अनुदात्तांश होता है।[1] उवट का यह मत ठीक प्रतीत नहीं होता। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में स्वरित के उदात्तांश के विषय में जो विकल्प दिया गया है वह व्यवस्थित विकल्प नहीं है, प्रत्युत वह दो सम्प्रदायों के मत का उल्लेख करता है। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के समय में ऋग्वेदियों के ही दो ऐसे सम्प्रदाय रहे होंगे, जिनमें से एक में प्रारम्भ की एक मात्रा के अर्द्धभाग को ही उदात्तांश माना जाता होगा तथा दूसरे सम्प्रदाय में सम्पूर्ण मात्रा का अर्द्धभाग उदात्तांश माना जाता होगा, शेष अनुदात्तांश। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' को अपने सम्प्रदाय के अनुसार प्रथम मत मान्य था। विकल्प के रूप में जो मत उपस्थित किया है वह ऋग्वेद प्रातिशाख्यकार का अपना मत नहीं बल्कि ऋग्वेदान्तर्गत किसी दूसरे सम्प्रदाय का है। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के मत के समान ही 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' का मत है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार स्वरित में प्रारम्भ की आधी ह्रस्व मात्रा उदात्त होती है[2], शेष अनुदात्त। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के भाष्यकार सोमयार्य तथा गार्ग्यगोपाल यज्वा ने क्रमशः 'त्रिभाष्य रत्न'[3] एवं 'वैदिकाभरण'[4] में इसी मत को निश्चित रूप से स्वीकार किया है। 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' का मत 'ऋग्वेद

---

१. उदात्तात्सकाशादुदात्ततरादावर्धमात्रा वेदितव्या। त्र्यम्बकम्। अर्धमेव वा। द्विमात्रस्य स्वरस्यायमुदात्तांशः कथितः। तेऽवर्धन्त। उवट, ऋ० प्रा० भा० ३.४।

२. तस्यादिस्तावदुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य।
तै० प्रा० १.४१।

३. तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्ततरो भवति यावद् ह्रस्वस्यार्धम्।
तै० प्रा० त्रि. र. १.४१।

४. यावदर्धं ह्रस्वस्य तावन्मात्रमर्धमात्रासम्मितोंऽश इत्यर्थः।
तै० प्रा० वै० १.४१।

प्रातिशाख्य' में स्वरित के उदात्तांश के विषय में दिये गये दूसरे विकल्प से मिलता जुलता है। 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' के अनुसार स्वरित में प्रारम्भ का अर्द्धभाग उदात्त[१] तथा शेष अर्द्धभाग अनुदात्त होता है। उवट ने यहां इस सूत्र के भाष्य में लिखा है कि स्वरित एक मात्रा वाला हो, दो मात्रा वाला हो, या तीन मात्रा वाला हो, सर्वत्र उसका प्रारम्भ का अर्द्धभाग उदात्त[२] होगा, शेष अनुदात्त। उवट ने यहां ऋग्वेद प्रातिशाख्य (३. ४) के भाष्य में व्यक्त किये गये अपने मत का खुलासा किया है। वहां पर उन्होंने यह मत व्यक्त किया है कि एकमात्रा वाले स्वरित में आधी मात्रा उदात्त होगी, शेष आधी अनुदात्त; दो मात्रा वाले स्वरित में अर्द्धभाग अर्थात् एक मात्रा उदात्त, शेष एक मात्रा अनुदात्त होगी। उसी को यहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा है कि चाहे स्वरित एक मात्रा वाला हो, चाहे दो मात्रा वाला हो, सर्वत्र उसका अर्द्धभाग उदात्त होगा शेष भाग अनुदात्त, अर्थात् यदि स्वरित ह्रस्व है तो आधी मात्रा उदात्त, आधी अनुदात्त ; यदि स्वरित दीर्घ है तो एक मात्रा उदात्त एक मात्रा अनुदात्त ; यदि स्वरित दीर्घ है तो एक मात्रा उदात्त, एक मात्रा अनुदात्त तथा यदि स्वरित प्लुत है तो डेढ़ मात्रा उदात्त डेढ़ मात्रा अनुदात्त होगी। युधिष्ठिर मीमांसक ने उवट के इस अभिप्राय को न समझकर यह लिखा है कि 'उवट और अनन्तभट्ट ने इस सूत्र की व्याख्या में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत सभी स्वरितों के आरम्भ की आधी मात्रा उदात्त मानी है, शेष यथाक्रम आधी, डेढ़ और ढाई अनुदात्त'।[३] उवट ने कहीं भी ऐसा मत व्यक्त नहीं किया है। उसने सर्वत्र अर्द्धभाग को उदात्त तथा शेष अर्द्धभाग को अनुदात्त माना है।

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के प्रथम मत तथा 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के ही मत का समर्थन मिलता है। पाणिनि की

---

१. तस्यादित उदात्तꣳ स्वरार्द्धमात्रम्। वा० प्रा० १.१२६।

२. स्वरितस्य स्वरस्यादावुदात्तं ज्ञातव्यं तच्च स्वरार्द्धमात्राकालम्। यद्येकमात्रो यदि द्विमात्रो यदि त्रिमात्रः स्वरस्तथाप्यर्द्धमुदात्तं परमनुदात्तम्। अयं तु स्वरिते उदात्तानुदात्तप्रविभागो द्रष्टव्यः। उवट, वा० प्रा० भा० १.१२६।

३. वैदिक-स्वर-मीमांसा, पृ० २२।

दृष्टि में भी स्वरित में प्रारम्भ की आधी ह्रस्वमात्रा उदात्त होती है[1], शेष अनुदात्त। तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् इस पाणिनि-सूत्र की व्याख्या में दो मत मिलते हैं। एक मत 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के प्रथम मत तथा 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के मत से मिलता जुलता है तथा दूसरा मत 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' तथा उवट के मत से मिलता जुलता है। 'काशिका' के अनुसार[2] स्वरित के प्रारम्भ की आधी मात्रा उदात्त होती है, शेष अनुदात्त। जब स्वरित ह्रस्व है तो आधी मात्रा उदात्त और शेष आधी मात्रा अनुदात्त; जब स्वरित दीर्घ है तो आधी मात्रा उदात्त और शेष डेढ़ मात्रा अनुदात्त; और जब स्वरित प्लुत है तो आधी मात्रा उदात्त, शेष ढाई मात्रा अनुदात्त। 'काशिका' के व्याख्याकार जिनेन्द्रबुद्धि तथा हरदत्त का भी यही मत है। 'सिद्धान्त कौमुदी' में भट्टोजि दीक्षित ने 'अष्टाध्यायी' सूत्र में आये 'ह्रस्वम्' पद को अविवक्षित माना है, क्योंकि उनके अनुसार, यदि 'ह्रस्वम्' पद को अविवक्षित न माना जाय तो केवल ह्रस्व स्वरित में ही आधी मात्रा उदात्त होगी, दीर्घ या प्लुत स्वरित में उदात्तांश की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। भट्टोजि दीक्षित के मत में यहां 'ह्रस्वम्' पद अभिधेयार्थ में प्रयुक्त नहीं है, बल्कि ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत तीनों का उपलक्षण है। लक्षणा से वह दीर्घ तथा प्लुत का भी बोध कराता है। इस प्रकार भट्टोजि दीक्षित के मत में ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत सभी स्वरितों में प्रारम्भ का अर्द्धभाग उदात्त होता है, शेष भाग अनुदात्त[3]। 'सिद्धान्त कौमुदी' की टीका 'बालमनोरमा' में वासुदेव दीक्षित ने स्पष्ट रूप से इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है[4]।

---

१. तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्। पा० १.२.३२।

२. तस्य स्वरितस्य आदावर्द्धह्रस्वमुदात्तम् परिशिष्टमनुदात्तम्। ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम्। सर्वेषामेव ह्रस्वदीर्घप्लुतानां स्वरितानामेव स्वरविभागः। शिक्यं-मित्यत्रार्द्धमात्राऽऽदित उदात्ता अपरार्धमात्रा अनुदात्ता एकश्रुतिर्वा। कन्यां इत्यत्रार्द्ध-मात्राऽऽदित उदात्ता अध्यर्द्धमात्रा अनुदात्ता। माणवका३ माणवक इत्यत्रार्द्धमात्राऽऽदित उदात्ता अर्धतृतीयमात्रा अनुदात्ता। पा० का० १.२.३२।

३. ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम्। स्वरितस्यादितोऽर्धमुदात्तं बोध्यम्। उत्तरार्धं परिशेषादनुदात्तम्॥ पा० सि० कौ० १.२.३२ (१४)।

४. तस्य स्वरितस्य आदितः पूर्वभागे अर्द्धह्रस्वमुदात्तम् इत्यर्थः प्रतीयते। एवं सति दीर्घस्वरिते इयं व्यवस्था न स्यात्। अत आह—ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम् इति।

भट्टोजि दीक्षित तथा बालमनोरमाकार वासुदेव दीक्षित का मत 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' के ऊपर आधारित है। ऐसा मालूम पड़ता है कि उवट, भट्टोजि दीक्षित तथा वासुदेव दीक्षित वाजसनेयि-शाखा वाले थे, इसीलिये उन्होंने अपना मत 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' के ऊपर आधारित किया।

'अष्टाध्यायी' के जिन भाष्यकारों ने 'ह्रस्वम्' पद को अविवक्षित माना है, उन्होंने सूत्रार्थ को समझने में एक मौलिक भूल की है। सूत्र में 'ह्रस्वम्' पद को देखकर भाष्यकारों को ऐसा प्रतीत हुआ कि क्या पाणिनि ह्रस्व स्वरितों में ही प्रारम्भ में उदात्तांश की व्यवस्था बता रहे हैं, दीर्घ तथा प्लुत स्वरितों में नहीं? दीर्घ तथा प्लुत स्वरितों में भी तो उदात्तांश होता है। यही सोचकर उन्होंने 'ह्रस्वम्' पद को अभिधेयार्थ की दृष्टि से अविवक्षित मानकर उसके लक्ष्यार्थ को ही प्रामाणिक माना। इस प्रकार इन भाष्यकारों की दृष्टि में 'अर्द्ध' पद का सम्बन्ध केवल ह्रस्व से ही नहीं है, बल्कि ह्रस्व पद से उपलक्षित दीर्घ तथा प्लुत से भी है। वस्तुतः, पाणिनि को यह मत अभिप्रेत नहीं था। जो वैयाकरण अर्द्धमात्रा-लाघव से पुत्रोत्सव मनाते हैं, वे ही ऐसे पदों का प्रयोग सूत्र में क्यों करेंगे जो अविवक्षित किंवा अतन्त्र हो। यदि 'ह्रस्वम्' पद अविवक्षित था तो इसका प्रयोग ही पाणिनि ने क्यों किया? बिना इसके प्रयोग के भी तो सूत्र का अर्थ निकल सकता था कि उस स्वरित के आदि का अर्द्धभाग उदात्त होता है। ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत कह कर उसी अर्थ की पुनरावृत्ति करने की क्या आवश्यकता थी? पाणिनि सूत्र पर भाष्य तो लिख नहीं रहे थे। पाणिनि द्वारा सूत्र में प्रयुक्त एक स्वर, एक व्यञ्जन भी जब साभिप्राय है तो 'ह्रस्वम्' पद को अविवक्षित कहना पाणिनि के ही सिद्धान्त का अपमान करना है। वस्तुतः, पाणिनि सूत्र में प्रयुक्त 'ह्रस्वम्' पद के द्वारा यही दिखाना चाहते हैं कि स्वरित के प्रारम्भ में एक ह्रस्वमात्रा की आधी मात्रा उदात्त होती है, शेष अनुदात्त। अगर 'ह्रस्वम्' पद का प्रयोग सूत्र में न करते तो यह अभिप्रेत अर्थ नहीं निकल सकता था। क्योंकि इसके अभाव में अर्द्ध पद से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत सब में अर्द्धभाग उदात्त समझा जाता।

तन्त्रं प्रधानम्। 'तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते' इति कोशः। न विद्यते तन्त्रं वाच्यार्थलक्षणं प्रधानं यस्य तद् अतन्त्रम् अविवक्षितार्थकमित्यर्थः। ह्रस्वग्रहणं न कर्तव्यमिति यावत्। दीर्घस्वरितेऽप्युतरभागस्य वेदे अनुदात्तत्वदर्शनादिति भावः।

सि० कौ०, बा० मनो०, १४।

भट्टोजि दीक्षित का इस पाणिनि-सूत्र का व्याख्यान 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' तथा उवट के भाष्य पर आधारित है।

शिक्षा-ग्रन्थों में 'नारदीय शिक्षा', 'शैशिरीय शिक्षा', 'कौहलि शिक्षा', 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' आदि में इस विषय का विवेचन हुआ है। 'नारदीय शिक्षा' के अनुसार स्वरित चाहे एकमात्रिक हो, चाहे द्विमात्रिक हो उसके प्रारम्भ की आधो मात्रा उदात्त होती है, शेष अनुदात्त[1]। यहां मात्रा का अभिप्राय ह्रस्व मात्रा से ही है। 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' के अनुसार स्वरित चाहे मात्रिक हो, चाहे द्विमात्रिक हो उसके प्रारम्भ का अर्धभाग उदात्त होता है[2]। कारिका में तस्यादितोऽर्द्धमात्रा का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ एक ह्रस्व मात्रा का अर्द्धभाग भी किया जा सकता है, किन्तु 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' को यह अभिप्रेत नहीं। 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' सिद्धान्त में 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' का ही अनुसरण करती है। उससे इसका मतभेद नहीं। उसकी 'शिक्षावल्ली विवृत्ति' में अर्द्धमात्रा का अर्थ 'अर्द्धम्' किया गया है, ह्रस्व मात्रा का अर्द्ध नहीं। विवृत्तिकार ने पाणिनिसूत्र को उद्धृत करते हुये उसमें प्रयुक्त ह्रस्व पद को अविवक्षित माना है।

स्वरित के स्वरूप के विषय में इतना निश्चित हो जाने पर कि उसका उदात्तांश प्रारम्भ में होता है और अनुदात्तांश अन्त में, तथा यह भी निश्चित हो जाने पर कि उसका कितना भाग उदात्त है और कितना अनुदात्त है, अब यह प्रश्न उठता है कि यहां स्वरित को समाहारात्मक मानकर उसमें उदात्त-अनुदात्त की जो व्यवस्था की गई है, वह सभी स्वरितों के लिये सामान्य रूप से है या कुछ विशेष स्वरितों के लिये ही। इस विषय में मतभेद दिखाई पड़ता है। प्रातिशाख्यकारों तथा पाणिनि ने स्वरित की जो परिभाषा समाहारः स्वरितः के रूप में की, वह स्वतन्त्र स्वरित के लिये ही प्रतीत होती है, आश्रित स्वरित के लिये नहीं। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में स्वरित का जहां आक्षेप द्वारा उच्चरित

---

१. मात्रिकं वा द्विमात्रं वा स्वर्यते यदिहाक्षरम्।
तस्यादितोऽर्द्धमात्रा वै शेषं तु परतो भवेत्॥ ना० शि० २.३.६।

२. मात्रिकं वा द्विमात्रं वा स्वरितं यदिहाक्षरम्।
तस्यादितोऽर्द्धमात्रा वै शेषं च परतो भवेत्॥ या० शि०, १. ९१।

होने का उल्लेख किया गया है[1] वहां स्वरित से तात्पर्य स्वतन्त्र स्वरित से ही है। उवट ने उसकी व्याख्या में क्वं तथा न्यंक् को उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है, जो निश्चित रूप से स्वतन्त्र स्वरित के उदाहरण हैं। एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः (ऋ० प्रा० ३. ३), इस सूत्र के द्वारा भी स्वतन्त्र स्वरित का ही कथन किया गया है। तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा (ऋ० प्रा० ३.४), अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः। न चेदुदात्तं वोच्यते किंचित्स्वरितं वाक्षरं परम् (ऋ० प्रा० ३.५-६), आदि सूत्रों के द्वारा स्वतन्त्र स्वरित के उच्चारणगत वैशिष्ट्य का ही प्रतिपादन किया गया है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के समाहारः स्वरितः (७.४०) की व्याख्या में सोमयार्य ने 'त्रिभाष्य रत्न' में जहां उदात्त और अनुदात्त के समाहार अर्थात् मेल से स्वरित होने की बात कही है, वहां उन्होंने उदाहरण के रूप में तेंऽब्रुवन् को ही उद्धृत किया है जो निश्चित रूप से स्वतन्त्र स्वरित का ही रूप है। गार्ग्यगोपाल यज्वा ने भी 'वैदिकाभरण' में उक्त सूत्र के भाष्य में स्वरित के उदाहरण रूप में ह्यंग्नेऽस्यम् को उद्धृत किया है, जो निश्चित रूप से स्वतन्त्र स्वरित के ही उदाहरण हैं। 'काशिका' तथा 'सिद्धान्त कौमुदी' में पाणिनि के समाहारः स्वरितः, इस सूत्र के भाष्य में भी जो उदाहरण दिये गये हैं, वे स्वतन्त्र स्वरित के ही हैं। प्रातिशाख्यकार तथा पाणिनि उदात्तपूर्व स्वरित अर्थात् सामान्य स्वरित को स्वभावतः अनुदात्त मानते हैं, उसमें उदात्त और अनुदात्त का समाहार नहीं मानते। ऋग्वेदप्रातिशाख्यकार का स्पष्ट कथन है कि उदात्तपूर्व स्वरित को पद में अनुदात्त ही समझना चाहिये।[2] अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (पा० ६.१.१५८) इस सूत्र के द्वारा पाणिनि भी यही कहना चाहते हैं कि एक उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित को छोड़कर

---

१. ...... आक्षेपैस्त उच्यन्ते। ऋ० प्रा० ३.१ ; आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्। क्वं। न्यंक्॥ उवट, ऋ० प्रा० भा० ३.१।

२. उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम्। ऋ० प्रा० ३.७।
एकस्मिन्पदे उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं प्रत्येतव्यम्। सांहितिकस्यायं धर्मोऽनुदात्तस्य सत उदात्तपरस्य। उवट, ऋ० प्रा० भा० ३.७।
स्वारोदात्तपरश्चेत् स्यात् तदा निहत इष्यते।
स्वरितस्यास्य मन्यन्ते प्रशानं प्राकृतस्त्विति॥ कौ० शि० १०।

एक पद के शेष वर्ण अनुदात्त होते हैं। उदात्तपूर्व स्वरित इसी अनुदात्त की श्रेणी में आ जाता है। पाणिनि के उक्त सूत्र की व्याख्या में श्रीनिवास यज्वा ने अपनी 'स्वर सिद्धान्त चन्द्रिका' में यही मत व्यक्त किया है कि जिस पद में जिस सूत्र से जितने उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित का विधान किया गया हो, उनको छोड़ कर शेष अनुदात्त ही होते हैं।[१]

'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य (१.४१), इस सूत्र में आये उदात्तादनन्तरे से यह मालूम होता है कि उदात्त के ठीक पश्चात् आने वाले स्वरित में ही यह उदात्त-अनुदात्त की व्यवस्था है, अभिनिहितादि स्वतन्त्र स्वरितों में नहीं। उक्त सूत्र के भाष्य में 'त्रिभाष्यरत्न' उदाहरण रूप में स इंधानः (तै० सं० ४.४.४.५) को उद्धृत करता है, जो निश्चित रूप से उदात्तपूर्व सामान्य स्वरित का उदाहरण है। किन्तु यह बड़ी विचित्र बात है कि जहां उदात्त और अनुदात्त के समाहार में उत्पन्न स्वरित का उदाहरण 'त्रिभाष्यरत्न' तथा 'वैदिकाभरण' में स्वतन्त्र स्वरित का मिलता है, वहां उसके उदात्तांश तथा अनुदात्तांश की व्यवस्था बताने में उदात्तपूर्व स्वरित का उदाहरण। उदात्तपूर्व स्वरित में आदि की आधी ह्रस्व मात्रा को उदात्त तथा शेष को अनुदात्त मानना उसके समाहारत्व धर्म की ओर ही संकेत है, किन्तु जहां स्पष्ट रूप से समाहारत्व रूप धर्म का उल्लेख किया गया है, वहां उदात्तपूर्व स्वरित का किसी ने उदाहरण नहीं दिया है। यदि उदात्तपूर्व स्वरित में समाहारत्व धर्म अभीष्ट था तो समाहारः स्वरितः इस सूत्र के भाष्य में उदाहरण रूप में निश्चित रूप से उदात्तपूर्व स्वरित को भी रखना चाहिये था।

प्रातिशाख्यों, शिक्षाओं तथा पाणिनि के अनुसार उदात्त के बाद आने वाले अनुदात्त को स्वरित होता है, किन्तु उसके आगे कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित न हो।[२] यदि उसके आगे कोई दूसरा उदात्त

---

१. यस्मिन्नेकस्मिन्पदे येन सूत्रेण यावन्त उदात्ताः स्वरिता वा विधीयन्ते तावतो वर्जयित्वा शिष्टास्तत्पदस्था अचोऽनुदात्ताः भवन्तीति सूत्रार्थो निष्पन्नः।

स्व० सि० च० परि० सू० ५।

२. उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्त्या व्यञ्जनेन वा।

स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्॥ ऋ० प्रा० ३.१७।

उदात्तात्परोऽनुदात्तः स्वरितम्। नोदात्तस्वरितपरः।

तै० प्रा० १४.२९,३१।

या स्वतन्त्र स्वरित आयेगा तो वहां स्वरित न होकर अनुदात्त ही बना रहता है। किन्तु आग्निवेश्यायन नामक आचार्य का मत है कि उदात्त के बाद आने वाला स्वरित हमेशा बना रहेगा, उसके आगे भले कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित हो क्यों न आवे।[१] यही मत गार्ग्य, काश्यप तथा गालव का भी है।[२] केवल उदात्त के बाद आने वाले स्वरित के ही अस्तित्व का उदात्त या स्वरित परे रहने पर निषेध न कर सभी प्रकार के स्वरितों का निषेध कुछ शाखा वाले करते हैं।[३] वाजसनेयि-शाखा के 'शतपथ ब्राह्मण' में स्वरित की सत्ता नहीं[४]। 'शतपथ' के समान ही ताण्डच और भाल्लवि शाखा के ब्राह्मणों में स्वरित की सत्ता नहीं[५]। इससे यह बात सिद्ध होती है कि अधिकांश शाखाओं में उदात्त के बाद आने वाले स्वरित को स्वरित के रूप में स्वीकार हो नहीं किया जाता था। उसको वस्तुतः अनुदात्त ही माना जाता था। 'शतपथ ब्राह्मण' आदि में तो स्वतन्त्र स्वरित की भी सत्ता मान्य नहीं थी। काण्व शाखा की संहिता में सभी स्वरित, उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर अनुदात्त ही माने जाते हैं। उनका स्वरितत्व नहीं रहता, जैसे—वीर्यं मयि धेहि (कां० सं० २१.१.८)। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के भाष्यकार गार्ग्यगोपाल यज्वा ने लिखा है कि उदात्त के बाद आने वाला स्वरित वस्तुतः स्वरूप से स्वरित नहीं होता। वह अनुदात्त का आदेश मात्र है। वह स्वाभाविक स्वरित नहीं है। ये सब नैमित्तिक अर्थात् किसी निमित्त से होते हैं, जैसे—अनुमीवा अयक्ष्माः (तै० सं० १.१.१.१)। इसमें पूर्ववर्ती उदात्त स्वरित का

१. नाग्निवेश्यायनस्य। तै० प्रा० १४.३२।

२. नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्। पा० ८.४.६७।

३. सर्वो नेत्येके सर्वो नेत्येके। तै० प्रा० १४.३३।

४. द्वौ। वा० प्रा० १.१२९; द्वौ स्वरावुदात्तानुदात्तौ भाषितलक्षितौ शतपथब्राह्मणे आहुः। उवट, वा० प्रा० भा० १.१२९।
ब्राह्मणे तूदात्तानुदात्तौ भाषिकस्वरौ। प्रति० परि० १.८।

५ शतपथवत् ताण्डिभाल्लविनां ब्राह्मणस्वरः। भा० परि० ३.१५।
द्वितीयप्रथमावेतौ ताण्डिभाल्लविनां स्वरौ।
तथा शातपथावेतौ स्वरौ वाजसनेयिनाम्॥ ना० शि० १.१.१३।
छन्दोगानां वाजसनेयिनां च ब्राह्मणो गाथास्वरौ प्रथमद्वितीयौ भवतः।
शोभाकर, ना० शि० टी० १.१.१२।

निमित्त है। इसी प्रकार 'प्रउंगमुक्थम्' (तै० सं० ४.४.२) में भी स्वरित पूर्ववर्ती उदात्त के कारण है। ये प्रकृत्या अनुदात्त ही हैं। जिस प्रकार पितृणाम् में जो णकार है वह ऋकार के कारण है, उसका प्रकृतिरूप नकार है, उसी प्रकार वर्ण-संहिता के प्रसंग में उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः के द्वारा जहां स्वरित का विधान है, वहां वर्ण की प्रकृति अनुदात्त ही है। पूर्व उदात्त के निमित्त स्वरित हुआ है, ऐसा समझना चाहिये। इसी बात का कथन उत्तरोक्त श्लोक में किया है—

नीचं प्रकृत्या सकलमुदात्तादन्यदक्षरम्।
सोदात्ते निरुदात्ते तु पदे यत्स्वरितात्तथा ॥[1]

समाहारः स्वरितः को सभी स्वरितों की परिभाषा समझकर श्री शिवरामकृष्ण शास्त्री ने 'स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका' की भूमिका में पाणिनि की परिभाषा के साथ भारतीय परम्परागत स्वरित के उच्चारण में वैषम्य दिखाने का प्रयत्न किया है। यदि शास्त्री जी 'समाहारः स्वरितः' को स्वतन्त्र स्वरित का ही लक्षण मान लेते, जैसा कि पाणिनि को अभिमत था, तो उनके स्वरित-विषयक मत के साथ पाणिनि का मत बिल्कुल मिल जाता और पाणिनि के ऊपर परम्परा के त्याग का आरोप नहीं लगता। वस्तुतः स्वतन्त्र स्वरित तथा सामान्य स्वरित दोनों भिन्न स्वर हैं।

यह बात मान लेने पर कि समाहारः स्वरितः, यह लक्षण स्वतन्त्र स्वरित का है, आश्रित स्वरित का नहीं, और यह कि दोनों स्वर भिन्न हैं, यह प्रश्न उठता है कि उनका नाम समान क्यों? यदि स्वतन्त्र स्वरित में ही स्वरित का लक्षण घटता है तो आश्रित स्वरित को क्यों स्वरित कहा गया? उसे किसी दूसरे नाम से क्यों नहीं पुकारा गया? पाणिनि ने भी तो आश्रित स्वरित को स्वरित नाम से ही उसकी सत्ता स्वीकार की है। उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः इस सूत्र में निश्चित रूप से उदात्तपूर्व स्वरित के लिये ही स्वरित शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि यह स्वरित प्रकृत्या अनुदात्त है तो इसे अनुदात्त ही क्यों नहीं कहा? इससे मालूम पड़ता है कि इसमें भी कोई ऐसी विशेषता है जो स्वतन्त्र स्वरित में है, जिसके कारण उसे भी स्वरित कहा गया है। बात यह है कि समाहारः स्वरितः यह तो निश्चित रूप से स्वतन्त्र स्वरित का ही लक्षण

१. तै. प्रा. वै. १४. २९।

है, आश्रित स्वरित का नहीं, किन्तु आश्रित स्वरित का जो स्वरितत्व है वह वास्तविक नहीं अनुकरणात्मक है, या स्वतन्त्र स्वरित के सादृश्य पर है। स्वतन्त्र स्वरित में उदात्त और अनुदात्त दोनों का एक वर्ण में समाहार होता है, जैसे—कुन्या॑। किन्तु आश्रित स्वरित में उदात्त और अनुदात्त एक वर्ण में समाहृत नहीं होते, साथ होते हैं, जैसे—इन्द्र॑ः। कुन्या॑ में जो स्वरित है वह उदात्त और अनुदात्त का समाहार है, किन्तु न्द्र॑ पर जो स्वरित है वह समाहारात्मक नहीं, उदात्त के बाद आने वाले अनुदात्त का ही स्वरित नाम हो गया है। उदात्त और अनुदात्त के समाहार से उत्पन्न स्वतन्त्र स्वरित के ही अनुकरण पर उदात्त के बाद आने वाले अनुदात्त को भी स्वरित मान लिया जाता है, वस्तुतः वह प्रकृत्या स्वरित होता नहीं। स्वतन्त्र स्वरित जो एक वर्ण पर उदात्त और अनुदात्त के समाहार रूप में होता है, उसी के सादृश्य या अनुकरण से पास-पास रहने वाले उदात्त और अनुदात्त में अनुदात्त को स्वरित हो जाता है। दोनों में अन्तर यही है कि एक में उदात्त-अनुदात्त का समाहार है और दूसरे में उदात्त के बाद अनुदात्त का स्वरितत्व अनुकरण से है। दोनों के एक नामकरण का एक दूसरा कारण यह भी है कि दोनों गिरने वाले स्वर हैं। स्वतन्त्र स्वरित में जो उदात्तांश होता है वह उदात्ततर होता है अर्थात् उदात्त से कुछ ऊँचा होता है। स्वतन्त्र स्वरित उदात्त से कुछ ऊँचा उठ कर पुनः गिरना शुरू होता है और गिर कर उदात्त-भूमि पर आता है। किन्तु उदात्तपूर्व स्वरित नीचे गिर कर अनुदात्त-धरातल पर आ जाता है, या अनुदात्त से कुछ ऊपर रहता है, लेकिन किसी हालत में उदात्त-धरातल पर नहीं होता। स्वतन्त्र स्वरित का गिरना उदात्त-भूमि पर होता है, जबकि आश्रित स्वरित का गिरना उदात्त-भूमि से नीचे होता है। इनके उच्चारणगत वैशिष्ट्य का विवेचन 'स्वरित का उच्चारण' नामक अध्याय में किया जायेगा।

अध्याय २

स्वरित के भेद

प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में स्वरित के कई भेद मिलते हैं। कुछ संहिताओं में तो उनमें से कुछ स्वरितों का स्वराङ्कन-प्रकार भी अलग-अलग है। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य'[१], 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य'[२], 'कौहलि शिक्षा'[३], 'माण्डूकी शिक्षा'[४], 'नारदीय शिक्षा'[५] तथा 'शैशिरीय शिक्षा'[६] में स्वरित के सात भेद बताये गये हैं। इनमें किसी-किसी स्वरित-भेद

---

१. ऋ० प्रा० में सात प्रकार के स्वरितों का एकत्र उल्लेख नहीं किया गया है। ऋ० प्रा० के निम्नलिखित कारिका में पांच ही स्वरित-भेदों का उल्लेख है—

वैवृत्ततैरोव्यञ्जनौ क्षैप्राभिनिहितौ च तान्।
प्रश्लिष्टं च यथासंधि स्वारानाचक्षते पृथक्॥ ३.१८।

इन पांच प्रकार के स्वरितों के अतिरिक्त दो प्रकार के और स्वरित है जिसका उल्लेख 'उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम्' (ऋ० प्रा० ३.७) तथा 'अतोऽन्यत्स्वरितं स्वारं जात्यमाचक्षते पदे' (ऋ० प्रा० ३.८) में किया गया है।

२. तै० प्रा० अध्याय २०, सूत्र १-७।

३. स्वारास्सप्तविधा ज्ञेया वक्ष्यन्ते ते विशेषतः।
नित्यः क्षैप्रोऽभिनिहितः प्रश्लिष्टः प्रातिहतस्तथा
पादवृत्तस्तथा तैरोव्यञ्जनस्वरितोऽपि च॥ कौ० शि० ८।

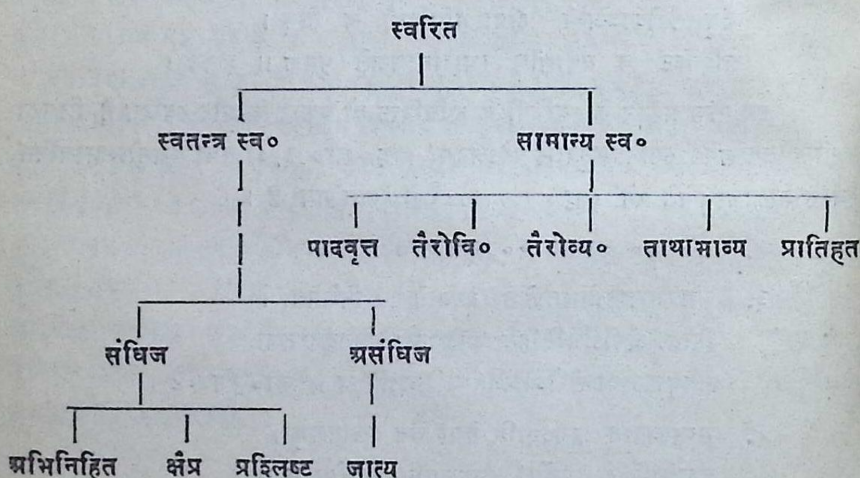
४. सप्तस्वरान् प्रवक्ष्यामि तेषां चैव बलाबलम्।
लक्षणानि च सर्वेषां युक्तस्तानि निबोध मे॥
अभिनिहितः प्राक्प्रश्लिष्टो जात्यः क्षैप्रश्च पादवृत्तश्च।
तैरोव्यञ्जनः षष्ठस्तिरोविरामश्च सप्तमः॥ मा० शि० ७.१-२।

५. जात्यः क्षैप्रोऽभिनिहितस्तैरोव्यञ्जन एव च।
तिरोविरामः प्रश्लिष्टः पादवृत्तश्च सप्तमः॥ ना० शि० १.८.१०।

६. सप्तस्वरान् प्रवक्ष्यामि तेषामेव तु लक्षणम्। शै० शि० २३२।

के नाम में अन्तर है। 'वाजसनेयिप्रातिशाख्य'[१] तथा 'याज्ञवल्क्य शिक्षा'[२] में स्वरित के आठ भेद बताये गये हैं। वे आठ भेद ये हैं—(१) जात्य, (२) अभिनिहित, (३) क्षैप्र, (४) प्रश्लिष्ट, (५) तैरोव्यञ्जन, (६) तैरोविरामक, (७) पादवृत्त, तथा (८) ताथाभाव्य।

इन स्वरित-भेदों को मुख्य रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है—(१) स्वतन्त्र स्वरित, तथा (२) सामान्य या नैमित्तिक स्वरित। सामान्य स्वरित के अन्तर्गत तैरोव्यञ्जन, तैरोविरामक, पादवृत्त तथा ताथाभाव्य, और स्वतन्त्र के अन्तर्गत जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र तथा प्रश्लिष्ट स्वरित आते हैं। स्वतन्त्र स्वरित के भी दो वर्ग किये जा सकते हैं—एक, संधिज तथा दूसरा, असंधिज। अभिनिहित, क्षैप्र तथा प्रश्लिष्ट संधिज स्वतन्त्र स्वरित के अन्तर्गत आते है और जात्य स्वरित असंधिज स्वतन्त्र स्वरित के अन्तर्गत आता है। इसको निम्नलिखित वृक्ष द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है—



---

१. वा० प्रा० अध्याय १, सूत्र १११—१२०।

२. अष्टौ स्वरान् प्रवक्ष्यामि तेषामेव तु लक्षणम्।
जात्योऽभिनिहितः क्षैप्रः प्रश्लिष्टश्च तथाऽपरः।
तैरोव्यञ्जनसंज्ञश्च तथा तैरोविरामकः।
पादवृत्तो भवेदुत ताथाभाव्य इति स्वराः॥ या० शि० १.७६-७।

स्वतन्त्र स्वरित

जिस प्रकार एक पद में सामान्य रूप से एक वर्ण उदात्त होता है, उसी प्रकार स्वतन्त्र स्वरित भी एक पद में अकेला होता है। एक पद में एक से अधिक उदात्त वर्णों की सत्ता हो सकती है, किन्तु ऐसा कोई पद नहीं जिसमें एक से अधिक स्वरित की सत्ता हो। जिस प्रकार उदात्त कभी अनुदात्तपूर्व या कभी अपूर्व हो सकता है, उसी प्रकार स्वतन्त्र स्वरित भी अनुदात्तपूर्व या अपूर्व होता है। इस स्वतन्त्र स्वरित को मुख्य रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है—संधिज और असंधिज। उदात्त और अनुदात्त की संधि से उत्पन्न स्वरित को 'संधिज स्वरित' कहते हैं।

संधिज स्वरित, जैसा कि नाम से ही ज्ञात होता है, दो स्वरों की संधि से उत्पन्न होता है। पूर्वपदान्त अच् तथा उत्तरपदादि अच्, जिनकी संधि होती है, स्वर-धर्म की दृष्टि से छः प्रकार के हो सकते हैं—(१) दोनों उदात्त हो सकते हैं, (२) दोनों अनुदात्त हो सकते हैं, (३) पूर्वपदान्त उदात्त एवं उत्तरपदादि अनुदात्त हो सकता है, (४) पूर्वपदान्त अनुदात्त एवं उत्तरपदादि उदात्त हो सकता है, (५) पूर्वपदान्त स्वरित तथा उत्तरपदादि उदात्त तथा (६) पूर्वपदान्त स्वरित तथा उत्तरपदादि अनुदात्त हो सकता है। प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थ अवस्था के संधिज स्वर के लिये पाणिनि ने **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** (पा० ८. २. ५) तथा **स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ** (पा० ८. २. ६), इन सूत्रों का विधान किया है। प्रथम और चतुर्थ अवस्था में एकादेश निश्चित रूप से उदात्त होगा, इसमें पाणिनि और सभी प्रातिशाख्यकार एकमत हैं। तृतीय अवस्था वाली संधि में ही विकल्प है। पाणिनि ने **स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ** का जो विकल्प दिया है वह इसी के लिये है। अर्थात् पूर्वपदान्त उदात्त हो और उत्तरपदादि अनुदात्त हो तो वहां पाणिनि के अनुसार उदात्त भी हो सकता है और स्वरित भी हो सकता है। पाणिनि ने यह जो विकल्प दिया उसकी उन्होंने व्यवस्था नहीं बताई कि कहाँ उदात्त और अनुदात्त की संधि उदात्त होगी और कहां स्वरित होगी। किन्तु पाणिनि ने जो यह विकल्प दिया है वह वैदिक भाषा में व्यवस्थित है। प्रातिशाख्यों में इसकी व्यवस्था इस प्रकार की गई है—पूर्वपदान्त उदात्त-धर्मवान् अच् तथा उत्तरपदादि

अनुदात्त-धर्मवान् अच् की संधि से जो स्वर उत्पन्न होगा वह निम्नलिखित अवस्थाओं में स्वरित होगा ।[1]

१. (क) पूर्वपदान्त उदात्त-धर्मवान् ह्रस्व 'इ' तथा उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् अनुदात्त ह्रस्व 'इ' की संधि में संधिज स्वर स्वरित होता है।

(ख) 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार पूर्वपदान्त उदात्त-धर्मवान् ह्रस्व 'उ' तथा उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् ह्रस्व 'उ' की संधि से जो स्वर उत्पन्न होता है वह स्वरित होता है।

(ग) माण्डूकेय के अनुसार प्रश्लिष्ट के सभी रूपों में, जिनमें उदात्त पहले है और अनुदात्त बाद में, संधिज स्वर स्वरित होता है।

२. पूर्वपदान्त उदात्त-धर्मवान् 'इ' या 'उ' तथा उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् किसी असमान स्वर की संधि से जो स्वर उत्पन्न होता है वह स्वरित होता है।

३. पूर्वपदान्त उदात्त-धर्मवान् 'ए' या 'ओ' तथा उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् 'अ' की संधि से जो स्वर उत्पन्न होता है वह स्वरित होता है।

इन तीन अवस्थाओं में जो संधिज स्वरित होता है उनको क्रमशः प्रश्लिष्ट, क्षैप्र तथा अभिनिहित स्वरित कहते हैं। इन अवस्थाओं के अतिरिक्त सर्वत्र पूर्वपदान्त उदात्त-धर्मवान् अच् तथा उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् अच् की संधि से जो स्वर उत्पन्न होता है वह निश्चित रूप से उदात्त होता है।[2] पूर्वोक्त अवस्थाओं में होने वाले स्वरितों का क्रमशः नीचे उल्लेख किया जाता है।

१. प्रश्लिष्ट स्वरित—लौकिक संस्कृत में जिसे दीर्घसंधि, गुणसंधि तथा वृद्धिसंधि कहा जाता है उसी का प्रातिशाख्यों में प्रश्लिष्ट

---

१. इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च ।
उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत् ॥ ऋ० प्रा० ३.१३ ।

२. उदात्तवत्येकीभाव उदात्तं संध्यमक्षरम् । ऋ० प्रा० ३.११ ।

संधि के नाम से उल्लेख किया गया है। प्रश्लिष्ट स्वरित इस नाम से ऐसा मालूम पड़ता है कि सर्वत्र जहां प्रश्लिष्ट संधि हुई हो वहाँ यह प्रश्लिष्ट स्वरित होना चाहिये, किन्तु बात ऐसी नहीं है। जहां-जहां प्रश्लिष्ट संधि होगी, वहां-वहां प्रश्लिष्ट स्वरित हो, यह आवश्यक नहीं। किन्तु, जहां-जहां प्रश्लिष्ट स्वरित होगा, वहां-वहां निश्चित रूप से प्रश्लिष्ट संधि होगी। प्रश्लिष्ट स्वरित प्रश्लिष्ट संधि को एक विशेष अवस्था में होता है। जब पूर्वपदान्त में ह्रस्व 'इ' तथा उत्तरपदादि में ह्रस्व 'इ' हो और पूर्वपदान्त अच् (स्वर) उदात्त हो तथा उत्तरपदादि अच् (स्वर) अनुदात्त हो तो दोनों की संधि से जो दीर्घ 'ई' स्वर उत्पन्न होता है वह स्वरित होता है[1], जैसे—स्रुचि+इव=स्रुचींव (ऋ० वे० १०.९१.१५)। पूर्वपदान्त तथा उत्तरपदादि दोनों में से कोई एक भी दीर्घ 'ई' हुआ तो प्रश्लिष्ट स्वरित नहीं होगा। वहां दोनों की संधि से उत्पन्न स्वर उदात्त होगा, जैसे—हि + ईम् + इद्धः = हीमिद्धः (ऋ० वे० १०.४५.४)। यहां पूर्वपदान्त उदात्त-धर्मवान् ह्रस्व 'इ' है, किन्तु उत्तरपदादि में दीर्घ 'ई' है, इसलिये यहां दोनों को संधि में प्रश्लिष्ट स्वरित नहीं होगा। प्रश्लिष्ट संधि का यह रूप 'ऋग्वेद-संहिता', 'वाजसनेयि-संहिता', 'सामवेद-संहिता', 'अथर्ववेद-संहिता' तथा 'मैत्रायणी-संहिता' में मिलता है।

'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार उदात्त ह्रस्व 'उ' तथा अनुदात्त ह्रस्व 'उ' की संधि से जो स्वर उत्पन्न होता है वह स्वरित न होकर

---

१. इकारयोश्च प्रश्लेषे……… ।
उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत् ॥ ऋ० प्रा० ३.१३ ।
इवर्णं उभयतो ह्रस्वः प्रश्लिष्टः । वा० प्रा० १.११६ ।
पूर्वो ह्रस्व इकार उदात्तः परश्च ह्रस्व इकारोऽनुदात्तस्तयोः परस्पर-प्रश्लिष्टे प्रश्लिष्टः स्वरो भवति । उवट, वा० प्रा० भा० १.११६ ।
इवर्णमुभयतो ह्रस्वमुदात्तपूर्वमनुदात्तपरं स्वरितम् । वा० प्रा० ४.१३३ ।
इकारयोः प्राश्लिष्टः । अ० प्रा० ३.५६ ।
इकारो यत्र दृश्येत इकारेणैव संयुतः ।
उदात्तश्चानुदात्तेन प्रश्लिष्टो भवति स्वरः ॥ या० शि० १.८१ ।
इकारं यत्र पश्येयुरिकारेणैव संयुतम् ।
उदात्तोऽप्यनुदात्तस्य प्राक् प्रश्लिष्टोऽभीन्धतामपि ॥ मा० शि० ७.४ ।

उदात्त ही होता है। इसलिये 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के मत में दो ह्रस्व इकारों की संधि में प्रश्लिष्ट स्वरित नहीं होता। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार जब पूर्वपदान्त में ह्रस्व 'उ' हो तथा उत्तरपदादि में ह्रस्व 'उ' हो, और पूर्वपदान्त उदात्त धर्मवाला हो तथा उत्तरपदादि अनुदात्त धर्मवाला हो तो दोनों को संधि से जो स्वर उत्पन्न होता है, वह स्वरित होता है और वह प्रश्लिष्ट संधि में होने के कारण प्रश्लिष्ट स्वरित कहलाता है[1], जैसे—सु + उद्गाता = सूद्गाता (तै० सं० ७.१.८); द्रिक्षु + उप = द्रिक्षूप (तै० सं० ५.५.५)। 'तैत्तिरीय संहिता' में प्रश्लिष्ट स्वरित ह्रस्व 'उ' तथा 'उ' की संधि में हो देखा जाता है। ऐसे स्थलों पर 'ऋग्वेद-संहिता', 'अथर्ववेद-संहिता', 'वाजसनेयि-संहिता', 'सामवेद-संहिता' एवं 'मैत्रायणी-संहिता' में संधिज स्वर स्वरित न होकर उदात्त ही होता है।

यहां प्रश्लिष्ट स्वरित के विषय में एक प्रश्न यह उठता है कि ऋग्वेद में उदात्त-धर्मवान् पूर्वपदान्तीय ह्रस्व 'इ' तथा अनुदात्त-धर्मवान् उत्तर-पदादि ह्रस्व 'इ' की संधि में तथा 'तैत्तिरीय-संहिता' में उदात्त-धर्मवान् पूर्वपदान्तीय ह्रस्व 'उ' तथा अनुदात्त-धर्मवान् उत्तरपदादि ह्रस्व 'उ' की संधि में जब संधिज स्वर स्वरित होता है तो इनके दीर्घ रूपों में संधिज स्वर स्वरित क्यों नहीं होता? दोनों पदान्तीय तथा पदादि में ह्रस्व 'इ' या 'उ' के होने पर स्वरित का तो निश्चित रूप से विधान किया गया है, किन्तु तीन अवस्थाओं में—(१) पदान्तीय ह्रस्व 'इ' या 'उ' तथा पदादि दीर्घ 'ई' या 'ऊ' में, (२) पदान्तीय दीर्घ 'ई' या 'ऊ' तथा पदादि ह्रस्व 'इ' या 'उ' में, (३) पदान्तीय दीर्घ 'ई' या 'ऊ' तथा पदादि दीर्घ 'ई' या 'ऊ' में—संधिज स्वर स्वरित नहीं होता। द्वितीय अवस्था में संधिज स्वर स्वरित न होने का कारण ह्विटनी यह बताता है कि पूर्वपदान्तीय दीर्घ 'ई' या 'ऊ' ह्रस्व 'इ' या 'उ' से सबल होने के कारण तथा उदात्त-धर्मवान् होने के कारण उत्तरपदादि कमजोर स्वर अनुदात्त-धर्मवान् ह्रस्व 'इ' या 'उ' को आत्मसात् कर लेता है। इस प्रकार पूर्व स्वर बलवान् होने के कारण

---

1. ऊभावे प्रश्लिष्टः। तै० प्रा० १०.५।
द्वयोरुकारयोस्संधावुदात्तपरयोः क्रमात्।
तत्र यस्स्वर्यते स्वारः प्रश्लिष्टस्सोऽभिधीयते॥ कौ० शि० १६।

संधिज स्वर उदात्त ही होता है[1], स्वरित नहीं, जैसे—एणी+इव= एणीव (अ० वे० ५. १४. ११); मही+इयम् = महीयम् (अ० वे० ९.१०.१२)। यहां एणींव तथा महींयम् नहीं होगा। वस्तुतः यहां उदात्त और अनुदात्त का समाहार न होकर एकादेश ही होता है। प्रथम अवस्था के विषय में ह्विटनी ने वैयाकरणों तथा प्रातिशाख्यकारों के द्वारा प्रतिपादित नियम के विरुद्ध एक सुझाव दिया है। उसका कहना है कि उदात्त-धर्मवान् ह्रस्व 'इ' तथा अनुदात्त-धर्मवान् ह्रस्व 'इ' की संधि में जब संधिज स्वर स्वरित होता है, जिसमें अनुदात्त स्वरित के अन्तिम भाग में वर्तमान रहता है, तो पूर्वपदादि ह्रस्व 'इ' या 'उ' उत्तरपदादि दीर्घ 'ई' या 'ऊ' की संधि में भी अनुदात्तांश उपस्थित होना चाहिये, क्योंकि जब ह्रस्व 'इ' या 'उ', जो दीर्घ 'ई' या 'ऊ' से कम प्रबल है उनका स्वर वर्तमान है, तो उत्तरपदादि दीर्घ 'ई' या 'ऊ' का अनुदात्तांश भी संधिज स्वर में वर्तमान रहना चाहिये और यहां स्वरित में अनुदात्तांश ह्रस्व 'इ' या 'उ' की अपेक्षा अधिक होना चाहिये। ह्विटनी का कथन है कि इस प्रकार के उदाहरण, जिनमें पूर्वपदान्तीय उदात्त-धर्मवान् ह्रस्व 'इ' या 'उ' हो तथा उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् दीर्घ 'ई' या 'ऊ' हो, इतने कम थे कि इनमें संधिज स्वर स्वरित होने का प्रातिशाख्यकारों ने ध्यान ही नहीं दिया और उन्होंने जो उदाहरण दिये वे अपने स्वर नियम को पुष्ट करने के लिये ही दिये। ऐसा उन्होंने नहीं किया कि ऐसे उदाहरणों में भी प्रश्लिष्ट स्वरित हो सके, इसके लिये अपने स्वरनियम में कोई सुधार करें।[2] 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' अपवाद रूप में एक ही पद वीक्षित (वि + ईक्षित) (शु० य० सं० २२.८) उपस्थित करता है, जहां उत्तर-पदादि अनुदात्त-धर्मवान् दीर्घ 'ई' होने पर भी प्रश्लिष्ट स्वरित होता है। ह्विटनी के मत में ऐसे अन्य उदाहरणों में भी प्रश्लिष्ट स्वरित होना चाहिये। तृतीय अवस्था के विषय में ह्विटनी ने कुछ नहीं कहा है। प्रातिशाख्यकारों तथा वैयाकरणों ने पदान्तीय दीर्घ 'ई' या 'ऊ' तथा पदादि दीर्घ 'ई' या 'ऊ' का उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि संहिताओं में ऐसे उदाहरण ही नहीं मिलते।[3]

---

१. ह्विटनी, अ० प्रा० ३.५६।

२. वही।

३. वही।

प्रश्लिष्ट स्वरित का जब सामान्य रूप से विवेचन करते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि एक तरफ ऋग्वेद, 'वाजसनेयि-संहिता', 'मैत्रायणी-संहिता' तथा 'सामवेद-संहिता' में उदात्त-धर्मवान् पूर्वपदान्तीय इकार तथा अनुदात्त-धर्मवान् उत्तरपदादि इकार की संधि में संधिज स्वर स्वरित होने और दूसरी तरफ 'तैत्तिरीय-संहिता' में उदात्त-धर्मवान् पूर्वपदान्तीय उकार तथा अनुदात्त-धर्मवान् उत्तरपदादि उकार की संधि में संधिज स्वर स्वरित होने का क्या कारण है ? जिस प्रकार 'ऋग्वेद', 'अथर्ववेद' 'वाजसनेयि-संहिता', 'मैत्रायणी-संहिता' तथा 'सामवेद' में पदान्तीय तथा पदादि दो इकारों की संधि में संधिज स्वर स्वरित होता है, उसी प्रकार 'तैत्तिरीय-संहिता' में भी पदान्तीय तथा पदादि दो इकारों की संधि में संधिज स्वर स्वरित क्यों नहीं होता ? तथा जिस प्रकार 'तैत्तिरीय-संहिता' में पदान्तीय तथा पदादि दो उकारों की संधि में संधिज स्वर स्वरित होता है उसी प्रकार 'ऋग्वेद' 'अथर्ववेद', 'वाजसनेयि-संहिता', 'मैत्रायणी-संहिता' तथा 'सामवेद' में भी पदान्तीय तथा पदादि उकारों की संधि में संधिज स्वर स्वरित क्यों नहीं होता ? वास्तव में यह एक बड़ा जटिल प्रश्न है। ह्विटनी के अनुसार 'ऋग्वेद' तथा 'अथर्ववेद' में उदात्त-धर्मवान् पदान्तीय 'उ' तथा अनुदात्त-धर्मवान् उत्तरपदादि 'उ' के संधिरूप का ही अभाव है। यही कारण है कि 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' तथा 'अथर्ववेद प्रातिशाख्य' में पदान्तीय तथा पदादि उकारों की संधि में संधिज स्वर स्वरित होने का उल्लेख ही नहीं किया गया है। 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में भी इसका उल्लेख नहीं मिलता। यह बात मानी जा सकती है कि उदात्त-धर्मवान् पदान्तीय 'उ' तथा अनुदात्त-धर्मवान् पदादि 'उ' की संधियों का 'ऋग्वेद' तथा 'अथर्ववेद' में अभाव होने के कारण इनके प्रातिशाख्यों में इस संधिज स्वरित का उल्लेख नहीं हुआ, किन्तु 'तैत्तिरीय-संहिता' में तो उदात्त धर्मवान् पदान्तीय 'इ' तथा अनुदात्त-धर्मवान् उत्तर-पदादि 'इ' के संधिरूप मिलते हैं ; फिर भी यहां संधिज स्वर स्वरित नहीं, और तैत्तिरीयप्रातिशाख्यकार ने भी यहां संधिज स्वर स्वरित नहीं माना। 'तैत्तिरीयप्रातिशाख्य' के भाष्य 'त्रिभाष्यरत्न' तथा 'वैदिकाभरण' में भी इस बात का संकेत नहीं मिलता कि पदान्तीय तथा पदादि इकारों की प्रश्लिष्ट संधि में संधिज स्वर स्वरित क्यों नहीं होता, दो उकारों में ही क्यों होता है।

'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में माण्डूकेय नामक आचार्य का उल्लेख है, जिनके मत में केवल ह्रस्व 'इ'+'इ' या ह्रस्व 'उ'+'उ' में प्रश्लिष्ट

स्वरित नहीं होता, बल्कि सर्वत्र जहां-जहां प्रश्लिष्ट संधि होगी वहां-वहां प्रश्लिष्ट स्वरित होगा।[१] वस्तुतः, ऋग्वेद की माण्डूकेय नामक एक शाखा थी, जो आज उपलब्ध नहीं है। उस शाखा की संहिता में सभी प्रश्लिष्ट संधियों में उदात्त और अनुदात्त का जो समाहार होता था वहां स्वरित ही होता था। किन्तु उवट को यह मत मान्य नहीं। उवट के अनुसार ह्रस्व 'इ' + 'इ' के अतिरिक्त उदात्त एवं अनुदात्त धर्म वाले पूर्वपदान्त एवं उत्तरपदादि में जो प्रश्लिष्ट संधि होती है वहां माण्डूकेय-शाखा वाले स्वरित का स्मरण ही करते हैं, किन्तु स्वरित करते नहीं।[२] सूत्र में आये 'स्मरेत्' पद का यही स्वारस्य है। वेबर, राथ, ह्विटनी आदि ने माण्डूकेय द्वारा प्रतिपादित सभी संधि-रूपों में जिनमें पदान्तीय वर्ण उदात्त तथा पदादि अनुदात्त हो, स्वरित होना 'शतपथ ब्राह्मण' का नियमित स्वरनियम माना है।[३] इन पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार 'शतपथ ब्राह्मण' में सर्वत्र प्रश्लिष्ट संधि में पूर्वपदान्तीय स्वर उदात्त तथा उत्तरपदादि अनुदात्त होने पर स्वरित होता है। किन्तु इनका यह मत निराधार है। 'शतपथ ब्राह्मण' में तो केवल उदात्त और अनुदात्त दो ही स्वर होते हैं, स्वरित नहीं होता। 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' का स्पष्ट कथन है कि 'शतपथ' में दो ही स्वर हैं।[४] 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में भी वाजसनेयि-शाखा के ब्राह्मण में स्वरित स्वर का निषेध किया गया है।[५] 'त्रिभाष्यरत्न' का भी कथन है कि 'वाजसनेयि ब्राह्मण' में उदात्त और अनुदात्त केवल दो ही स्वर होते हैं।[६] कात्यायन ने 'भाषिक परिशिष्ट सूत्र' में तो इसी का मुख्य रूप से

---

१. माण्डूकेयस्य सर्वेषु प्रश्लिष्टेषु तथा स्मरेत्॥ ऋ० प्रा० ३.१४।

२. माण्डूकेयाचार्यस्य मतेन सर्वेषु प्रश्लिष्टेषूदात्तपूर्वरूपेषु तथा स्मरेत्। न तु कुर्यात्। उवट, ऋ० प्रा० भा० ३.१४।

३. वेबर, वा० प्रा०, स्पेसीमेन २, पृ० ९; राथ : आन दि एलीमेण्ट्स आव् दि इण्डियन एक्सेण्ट एकार्डिंग् टु द प्रातिशाख्य सूत्राज्', अंग्रेजी अनुवाद, इण्ट्रोडक्शन टु द निरुक्त, बम्बे, १९१९, पृ० ३८।

४. द्वौ। वा० प्रा० १.१२९; द्वौ स्वरावुदात्तानुदात्तौ भाषितलक्षितौ शतपथब्राह्मणे आहुः। उवट, वा० प्रा० भा० १.१२९।

५. सर्वो नेत्येके सर्वो नेत्येके। तै० प्रा० १५.३३।

६. वाजसनेयिब्राह्मणे द्वावेव स्वरावुदात्तश्चानुदात्तश्च।
तै० प्रा० त्रि० र० १४.३३।

प्रतिपादन किया है। इन प्रमाणों के आधार पर वेबर आदि का 'शतपथ ब्राह्मण' में प्रश्लिष्ट स्वरित मानना निराधार सिद्ध होता है। 'शतपथ ब्राह्मण की स्वर प्रक्रिया' नामक लेख में 'शतपथ ब्राह्मण' के स्वर का विस्तार से हमने विवेचन किया है।[1]

इस प्रकार प्रश्लिष्ट स्वरित के जो तीन रूप दिखाई पड़ते हैं उनमें अन्तर का मात्र कारण शाखाभेद ही दिखाई पड़ता है। यह बात अवश्य चिन्त्य है कि केवल 'तैत्तिरीय-संहिता' में ही प्रश्लिष्ट स्वरित पदान्तीय तथा पदादि उकार में देखा जाता है, किसी भी अन्य संहिता में नहीं, यहां तक कि कृष्णयजुर्वेद की अन्य मैत्रायणी आदि संहिताओं में भी नहीं।

२. क्षैप्र स्वरित—जैसा कि नाम से ही मालूम होता है, यह स्वरित क्षैप्र संधि पर आश्रित है। पदान्तीय 'इ', 'उ', 'ऋ' तथा 'ऌ' के बाद कोई असमान स्वर आने पर 'इ', 'उ' तथा 'ऌ' का क्रमशः 'य्', 'व्', 'र्' तथा 'ल्' हो जाता है। संहिताओं में पदान्तीय 'ऌ' का अभाव है, इसलिये 'ऌ' का 'ल्' रूप वहां नहीं मिलता। इस संधिरूप को लौकिक संस्कृत में यण् तथा प्रातिशाख्यों में क्षैप्र संधि कहते हैं। 'इ', 'उ' तथा 'ऋ' की अपेक्षा 'य्', 'व्', 'र्' के उच्चारण में 'क्षिप्रता' अर्थात् शीघ्रता होती है, इसलिये असमान स्वर परे होने पर जब 'इ', 'उ', 'ऋ' क्रमशः 'य्', 'व्', 'र्' में परिवर्तित हो जाते हैं, तो उच्चारण में क्षिप्रता के कारण उसे क्षैप्र कहते हैं। इस प्रकार की संधि पर जो स्वरित आश्रित होता है उसे क्षैप्र स्वरित कहते हैं। प्रातिशाख्यों[2] एवं शिक्षाओं[3] के अनुसार जब पूर्वपदान्तीय

---

१. संस्कृत स्टडीज्, राज० विश्व० पत्रिका, १९६८–९, पृ० ६१–७३।

२. इवर्णोकारयोर्यवकारभावे क्षैप्रः उदात्तयोः—तै० प्रा० २०.१।
युवर्णौ यवौ क्षैप्रः—वा० प्रा० १.११५।

३. इ-उ-वर्णौ यदोदात्तावापद्येते यवौ क्वचित्।
अनुदात्ते परे नित्यं विद्यात् क्षैप्रस्य लक्षणम्॥ या० शि० १. ८०।
इवर्णोकारयोस्संधौ यवभाव उदात्तयोः
तत्र यस्स्वर्यते स्वारः क्षैप्र एष उदाहृतः॥ कौ० शि० १२।
इ-उवर्णौ यदोदात्तावापद्येते यवौ क्वचित्।
अनुदात्तप्रत्यये नित्यं विद्यात् क्षैप्रस्य लक्षणम्॥ ना० शि० २.१.२।
इउवर्णौ यदोदात्तावापद्येते यवौ क्वचित्।
अनुदात्तप्रत्यये स्याद्विद्धि क्षैप्रस्य लक्षणम्॥ मा० शि० ७.६।

उदात्त-धर्मवान् 'इ' या 'उ' उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् किसी असमान स्वर के कारण 'य्' या 'व्' में बदल जाता है तो संधिज स्वर स्वरित होता है, इसी स्वरित को क्षैप्र स्वरित कहते हैं, जैसे—त्रि+अम्बकम्=त्र्यम्बकम् (ऋ० वे० ७.५९.१२); नु+इन्द्र=न्विन्द्र (ऋ० वे० १.८२.१। पाणिनि के अनुसार जब उदात्त-धर्मवान् 'इ' तथा 'उ' अनुदात्त-धर्मवान् कोई असमान स्वर परे होने पर 'य्' तथा 'व्' में परिवर्तित हो जाते हैं, तो ऐसी परिस्थिति में उदात्त या स्वरित-यण् के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित में परिवर्तित हो जाता है।[1] यदि पूर्वपदान्तीय अनुदात्त-धर्मवान् 'इ' तथा 'उ' का यण् होगा तब उत्तरपदादि अनुदात्त का स्वरित नहीं होगा, जैसे—अभि+अश्नुते=अभ्यश्नुते। इसी प्रकार यदि उत्तरपदादि में अनुदात्त न हो तो भी स्वरित नहीं होगा, जैसे—हि+अप्रवत=ह्यप्रवत। पाणिनि के सूत्र से ज्ञात होता है कि क्षैप्र संधि में उत्तरपदादि अनुदात्त का दो अवस्थाओं में स्वरित होता है—प्रथम, उदात्त-धर्मवान् 'इ' या 'उ' पूर्व होने पर तथा द्वितीय, स्वरित-धर्मवान् 'इ' या 'उ' पूर्व होने पर। प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाओं में प्रथम प्रकार के ही स्वरित का उल्लेख मिलता है, स्वरित-धर्मवान् 'इ' या 'उ-' पूर्व अनुदात्त के स्वरित होने का वहां उल्लेख नहीं मिलता। उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (८. २. ४) इस पाणिनि-सूत्र की व्याख्या में 'काशिका' तथा 'सिद्धान्त कौमुदी' में स्वरित-धर्ममान् 'इ'- या 'उ'-पूर्व अनुदात्त के स्वरित होने का उदाहरण खलप्व्यांशा मिलता है। 'खलपू' मेहतर को कहते हैं जो नालियों को साफ करता है। खलपू शब्द अन्तोदात्त है। सप्तमी एकवचन के 'इ' (ङि) प्रत्यय, जो सुबन्त होने के कारण अनुदात्त है, के योग से खलप्वि पद बनता है। इस प्रकार यहां उदात्त-धर्मवान् 'ऊ' का अनुदात्त-धर्मवान् असमान स्वर परे होने पर 'व्' हो गया है और 'व्' के बाद वाले अनुदात्त को वर्तमान सूत्र के अनुसार स्वरित हो गया है। अब स्वरितान्त पद खलप्वि का आद्यनुदात्त पद आशा के साथ संधि होने पर खलप्वि का स्वरित-धर्मवान् 'इ' का यण् होता है और इस स्वरित के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है, जैसे—खलप्व्यांशा।[2]

---

१. उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य। पा० ८.२.४।

२. यहां खलप्व्यांशा में स्वराङ्कन तैत्तिरीय-शाखा के अनुसार समझना चाहिये, क्योंकि स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त आने पर यहां कम्प नहीं होता,

काशिकाकार ने तो इसे निश्चित रूप से स्वरितयण् का उदाहरण माना है। काशिकाकार का कहना है कि यदि स्वरित का यण् नहीं होगा, अर्थात् यण् के प्रति स्वरित असिद्ध होगा तो खलप्व्यांशा यह उदाहरण कैसे सम्भव हो सकेगा ? यदि यहाँ स्वरितयण् नहीं माना जायेगा तो दध्यांशयति आदि उदाहरणों में स्वरितयण् मानना पड़ेगा, जो ठीक नहीं। इसलिये स्वतन्त्र स्वरितयण् के बाद आने वाले अनुदात्त का ही स्वरित होगा।

स्वरितयण्-पूर्व अनुदात्त के स्वरित में परिवर्तन के विषय में पाणिनि के सूत्र में अवस्था-विशेष का कोई बन्धन दिखाई नहीं पड़ता। स्वरित शब्द से उदात्तपूर्व स्वरित का भी बोध होता है तथा अनुदात्तपूर्व या अपूर्व स्वरित का भी। यद्यपि पाणिनि ने यहां इसका उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उनको यहां स्वरित से अभिप्राय अनुदात्तपूर्व या अपूर्व स्वतन्त्र स्वरित से ही है। यदि यहाँ यह माना जाय कि स्वरित के दोनों रूप यहां पाणिनि को अभीष्ट थे तो यह बात संगत नहीं होगी, क्योंकि ऐसा मानने पर उदात्तपूर्व स्वरित-धर्मवान् अच् का यणादेश होने पर उसके परवर्ती अनुदात्त को स्वरित की प्राप्ति होने लगेगी, जैसे—सन्त्यग्ने (सन्ति+अग्ने)। सन्त्यग्ने पद में जो स्वरित है वह दो प्रकार से प्राप्त हो सकता है। एक तो प्रस्तुत पाणिनि सूत्र के अनुसार स्वरित-धर्मवान् पदान्तीय 'इ' का यणादेश होने पर अनुदात्त स्वरित में परिवर्तित हो जायेगा। दूसरा, 'इ' का असमान स्वर परे होने पर जब यणादेश होता है तो इसका स्वरत्व नष्ट हो जाता है और स्वर के अभाव में यह व्यञ्जन हो जाता है। फिर पूर्ववर्ती उदात्त के कारण व्यञ्जन का व्यवधान होने पर भी उत्तरपदादि अनुदात्त उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (पा० ८.४.६६), इस सूत्र के अनुसार स्वरित हो जाता है। सन्त्यग्ने का स्वरित इन दोनों में से किस के अनुसार है, इस विषय में भाष्यकार, काशिकाकार, मनोरमाकार आदि का यही मत है कि यहां सन्त्यग्ने में स्वरित उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः इस स्वर-नियम के अनुसार है, उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य, इस स्वर-नियम के अनुसार नहीं। यदि उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य, इस सूत्र के अनुसार स्वरित मानें तो वस्वस्मभ्यम् (वसु+अस्मभ्यम्),

---

जबकि ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, मैत्रायणी-संहिता आदि में कम्प हो जाता है। ऋग्वेद के अनुसार खलप्व्या ३ शा, ऐसा स्वराङ्कन होना चाहिये।

अन्वग्निः (अनु+अग्निः) आदि उदाहरणों में 'व' को अनुदात्त न होकर स्वरित ही होना चाहिये, किन्तु उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित, इस सूत्र के अनुसार यहां स्वरित नहीं हुआ, क्योंकि नोदात्तस्वरितोदयम्, यह सूत्र इसका निषेध करता है। यह निषेध-सूत्र उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः के लिये ही है, उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य के लिये नहीं। खलुप्व्यांशा में 'शा' उदात्त है क्योंकि आशा अन्तोदात्त पद है। यहां नोदात्तस्वरितोदयम् सूत्र लागू नहीं होता। यदि लागू होता तो खलुप्व्यांशा पद का स्वरित अनुदात्त में बदल जाता। इसीलिये वार्तिककार ने भी यण्स्वरो यणादेशे सिद्धो वक्तव्यः (पा० वा० ८.२.४), ऐसा कथन किया है।

सन्त्यंग्ने में स्वरित की प्राप्ति स्वरितयण् के पश्चात् आने वाले अनुदात्त के स्वरित होने से नहीं होती, बल्कि उदात्तादनुदातस्य स्वरितः के अनुसार यण् के व्यवधान में यहां स्वरित की प्राप्ति होती है। इसका कारण 'काशिका' के भाष्यकार तथा मनोरमाकार यही बताते हैं कि इस स्वरित के परे यदि कोई दूसरा उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आ जाय तो वह स्वरित अनुदात्त में बदल जाता है, किन्तु जो उदात्तस्वतियोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य के द्वारा विधान किया गया स्वरित है, वह उदात्त या स्वरित परे होने पर अनुदात्त में परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि वह नोदात्तस्वरितोदयम् के अधिकार क्षेत्र से बाहर है। वस्तुतः, उदात्तस्वरितयोयर्ण स्वरितोऽनुदात्तस्य के अनुसार जो स्वरित होता है वह भी नोदात्तस्वरितोदयम्, इस निषेध का उल्लंघन नहीं करता। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में ऐसे स्वरित का निषेध करने के लिये ही न चेदुदात्तं वोच्यते किञ्चित्स्वरितं वाक्षरं परम्, ऐसा कथन किया गया है। उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर इस स्वरित के भी एकांश में अनुदात्त होता है, जिसे कम्प या प्रकम्प कहा जाता है। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के भाष्यकार उवट ने इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि ऐसे स्वरितों के बाद यदि कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आयेगा तो बह्वृच-शाखा में स्वरित के अनुदात्तांश को कम्प होगा।[३] इसलिये नोदात्तस्वरितोदयम् के आधार पर सन्त्यंग्ने में उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः के अनुसार स्वरित मानना और उदात्तस्वरितयोर्यणः

---

३. यदि तूदात्तं स्वरितं वा परं स्यात्तदानुदात्तः परः शेषः स्यात्। स च कम्प इत्युच्यते बह्वृचैः। उवट, ऋ० प्रा० भा० ३.६।

स्वरितोऽनुदात्तस्य के अनुसार स्वरित होने का निषेध करना ठीक नहीं। सन्त्यग्ने में उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः के अनुसार स्वरित होने का कारण यह है कि सन्ति का 'ति' वर्ण अनुदात्तं पदमेकवर्जम्, इस पाणिनि सूत्र के ही अनुसार मूलतः अनुदात्त है। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम्, इस सूत्र के अनुसार भी यह मूलतः अनुदात्त ही है। इसलिये मूलतः अनुदात्त होने के कारण यहां उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य, यह सूत्र लागू ही नहीं होता। यदि वह मूलतः स्वरित होता तो वह नियम निश्चित रूप से लागू होता। संहिताओं में स्वरित-धर्मवान् 'इ' या 'उ' के 'य्' या 'व्' होने का उदाहरण ही नहीं मिलता, इसीलिये प्रातिशाख्यों में केवल उदात्तयण्पूर्व अनुदात्त के ही स्वरित होने का विधान मिलता है। पाणिनि ने लोकभाषा को दृष्टि में रखकर ही यहां स्वरितयण् का उल्लेख किया है।

क्षैप्र स्वरित के विषय में प्रातिशाख्यों तथा पाणिनि में एक मौलिक अन्तर दिखाई पड़ता है। सभी प्रातिशाख्य एवं शिक्षायें दो सिद्ध पदों में ही पदान्तीय 'इ' या 'उ' के उदात्तयण् होने पर उत्तरपदादि अनुदात्त को स्वरित होने का उल्लेख करते हैं, एक ही पद में अन्तोदात्त शब्द और सर्वानुदात्त सुबन्त प्रत्यय के योग में स्वरित का उल्लेख नहीं करते। किन्तु पाणिनि तथा उनके व्याख्याकारों ने एक ही पद में उदात्त- और स्वरितयण् के पश्चात् आने वाले अनुदात्त के स्वरित होने का विधान किया है। उदाहरणार्थ खलपू इस ऊकारान्त प्रातिपदिक में सप्तमी का 'इ' (ङि) प्रत्यय जो अनुदात्तौ सुप्पितौ, इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार अनुदात्त होता है, जोड़ने से सप्तमी एकवचन में खलप्वि पद बनता है। यहां खलप्वि में जो स्वरित है वह उदात्तयण् के बाद आने वाले अनुदात्त के ही स्थान पर हुआ है। नोङ्धात्वोः (पा० ६.१.१७५), इस सूत्र के द्वारा पाणिनि ने ऊकारान्त उदात्तपद के विभक्तियों में उदात्तयण्पूर्व अनुदात्त के स्वरित होने का विधान किया है, जैसे—ब्रह्मबन्ध्वा (ब्रह्मबन्धू + आ), खलप्वा, इत्यादि। इसी प्रकार ऊकारान्त अन्तोदात्त पद तनू में असर्वनामस्थान की सर्वानुदात्त अजादि विभक्ति परे होने पर उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य, इस सूत्र के अनुसार उदात्तयण्पूर्व अनुदात्त स्वरित में परिवर्तित हो जाता है, जैसे—तन्वा, तन्वे, तन्वः, इत्यादि। प्रातिशाख्यों, शिक्षाओं तथा आधुनिक विद्वानों के अनुसार तन्वा आदि में जो स्वरित होता है, वह क्षैप्र स्वरित नहीं। इनको जात्य स्वरित माना जाता है।

प्रातिशाख्यों तथा पाणिनि में क्षैप्रस्वरित-विषयक मतभेद का कारण यह है कि सभी प्रातिशाख्य विभक्तियुक्त प्रातिपदिक को एक सिद्ध पद मानते हैं। वे पद का विभाग प्रातिपदिक तथा विभक्तियों में नहीं करते। विभक्ति-युक्त पद जैसा है वैसा मान लेते हैं। किन्तु इसके विपरीत पाणिनि आदि वैयाकरण पद के प्रकृति-प्रत्यय के संस्कार पर विशेष जोड़ देते हैं। वे पद में प्रकृति-प्रत्यय को अलग-अलग मानते हैं, इसलिये स्वर-विषयक या संधि-विषयक विवेचन में भी दोनों को अलग मानकर ही चलते हैं। यही कारण है कि तन्वा॑ आदि में जो स्वरित हुआ है उसे वे संधिज ही मानते हैं। प्रातिशाख्यों में केवल एक 'अथर्ववेद प्रातिशाख्य' ही दो पदों के अतिरिक्त एक पद में भी प्रकृति-प्रत्यय के योग में उदात्तयण् के बाद आने वाले अनुदात्त को, जो स्वरित होता है क्षैप्र स्वरित के रूप में स्वीकार करता है। 'अथर्ववेद प्रातिशाख्य' के अनुसार अन्तोदात्त ऊकारान्त प्रातिपदिक जब असर्वनामस्थान को अजादि विभक्ति परे होने पर उदात्तयण् हो जाता है तो उसके परवर्ती अनुदात्त को सर्वत्र स्वरित होता है[1], जैसे—तन्वें, चम्वोः इत्यादि। इसी प्रकार श्रोण्योः पद में भी 'अथर्ववेद प्रातिशाख्य' के अनुसार क्षैप्र स्वरित होता है।[2] ऐसा मालूम पड़ता है कि 'अथर्ववेद प्रातिशाख्य' पाणिनि के बाद का है। किन्तु इस बात की भी सम्भावना का निषेध नहीं किया जा सकता कि पाणिनि ने प्रस्तुत सूत्र का आधार 'अथर्ववेद प्रातिशाख्य' को ही बनाया हो। पाणिनि और अथर्ववेद-प्रातिशाख्यकार में कौन पूर्ववर्ती है और कौन परवर्ती, इसका विवेचन हम कभी करेंगे।

३. अभिनिहित स्वरित—जब पूर्वपदान्त उदात्त-धर्मवान् 'ए' या 'ओ' के साथ उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् 'अ' पूर्वरूप हो जाता है, तो पूर्वपदान्त उदात्त 'ए' या 'ओ' को स्वरित हो जाता है। इसी को अभिनिहित स्वरित कहते हैं[3], जैसे—ते+अवर्धन्त=तेऽवर्धन्त (ऋ० वे०



---

१. ऊकारस्य सर्वत्र। अ० प्रा० ३.६०।

२. ओण्योश्च। अ० प्रा० ३.६१।

३. तस्मादकारलोपेऽभिनिहितः। तै० प्रा० २०.४।
एदोद्भ्यामकारो लुगभिनिहितः। वा० प्रा० १.११४।
ए-ओ आभ्यामुदात्ताभ्यामकारो निहतश्च यः।
स च यत्र प्रलुप्येत तं चाभिनिहितं विदुः॥ या० शि० १.७९।

१.८५७) ; सः + अब्रवीत्=सोऽब्रवीत् (तै० सं० २.१.२)। 'ए' या 'ओ' के बाद आने वाले उत्तरपदादि 'अ' का जो लोप होता है, उसे प्रातिशाख्यों में अभिनिहित संधि कहते हैं। उत्तरपदादि 'अ' पूर्वपदान्तीय 'ए' या 'ओ' में अभिनिहित हो जाता है, अर्थात् उसी में मिल जाता है। इस संधि में उत्पन्न होने के कारण ही इस स्वरित को अभिनिहित स्वरित कहते हैं। यह सभी संहिताओं में समान रूप से मिलता है।

क्षैप्र स्वरित के समान ही यह स्वरित अभिनिहित संधि में निश्चित रूप से मिलता है, यदि उसका पूर्वपदान्तीय वर्ण उदात्त धर्मवाला हो तथा उत्तरपदादि अनुदात्त धर्मवाला हो। यदि पूर्वपदान्तीय वर्ण उदात्त-धर्मवान् नहीं तथा उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् नहीं, तो दोनो की संधि से जो स्वर उत्पन्न होगा वह स्वरित न होकर उदात्त होगा, जैसे—विश्वतः+अदब्धासः =विश्वतोऽदब्धासः (ऋ० वे० १. ८९. १); हिरण्यशृङ्गः + अयः = हिरण्यशृङ्गोऽयः (ऋ० वे० १.१६३.९), इत्यादि।

(४) जात्य स्वरित—स्वतन्त्र स्वरित के अन्तर्गत संधिज स्वरित से भिन्न एक वर्ग है, जिसे असंधिज स्वरित कहते हैं। इस असंधिज स्वरित के अन्तर्गत केवल एक स्वरित आता है, और वह है जात्य स्वरित। एक पद में अनुदात्तपूर्व या अपूर्व स्वरित को जात्य स्वरित या नित्यस्वरित कहते हैं,[1] जैसे—कन्या, क्व, इत्यादि। यह स्वरित अन्य स्वरितों से भिन्न प्रकार का होता है। सामान्य स्वरित (पादवृत्त,

---

ओकारो य उदात्तस्स्यादेकारश्च पदान्तगः।
तयोर्यस्स्वरिते संधौ निहतेनोत्तरेण तु।
एषोऽभिनिहिताख्यस्तु स्वरः प्रोक्तो मनीषिभिः॥ कौ० शि० १४।
ए-ओ-आभ्यामुदात्ताभ्यामकारो निहतश्च यः।
अकारं यत्र लुम्पन्ति तमभिनिहितं विदुः॥ ना० शि० २.१.३।
ए-ओ-आभ्यामुदात्ताभ्यामकारो रेफितश्च यः।
अकारं यत्र लुम्पन्ति तमभिनिहितं विदुः॥ मा० शि० ७.३।

1. अतोऽन्यत्स्वरितं स्वारं जात्यमाचक्षते पदे। ऋ० प्रा० ३.८.।
एकपदे नीचपूर्वः सयवो जात्यः॥ वा० प्रा० १.१११।
एकपदे नीचपूर्वः सयवो जात्य इष्यते।
अपूर्वोऽपि परस्तद्वत् धान्यं सुप्वां स्वरित्यपि॥ या० शि० १. ७८।

तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, प्रातिहत, ताथाभाव्य) से यह इस अर्थ में भिन्न होता है कि (१) वे निश्चित रूप से उदात्तपूर्व होते हैं, जबकि जात्यस्वरित अनुदात्तपूर्व या अपूर्व होता है, जैसे—कुन्या॑, स्व॑; (२) सामान्य स्वरित उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर अपना मूल अनुदात्त रूप ग्रहण कर लेता है, जबकि जात्य स्वरित अनुदात्त नहीं होता। उसका एक अंश अनुदात्त होता है, जो कम्प कहलाता है। संधिज स्वरित (प्रश्लिष्ट, क्षैप्र तथा अभिनिहित) से जात्य स्वरित इस अर्थ में भिन्न है कि (१) वे दो पदों में उदात्त और अनुदात्त की संधि से उत्पन्न होते हैं, जबकि यह एक ही पद में बिना संधि के होता है, (२) पदपाठ करते समय संधिज स्वरित अपने मूल रूप उदात्त एवं अनुदात्त में बदल जाते हैं, जबकि जात्य स्वरित पदपाठ में भी उसी रूप में बना रहता है।

जात्य स्वरित की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि यह हमेशा संयुक्त वर्ण पर होता है, जिसका परवर्ती वर्ण निश्चित रूप से 'य्' तथा 'व्' होता है। इस विशेषता के कारण ही प्रातिशाख्यकारों तथा शिक्षाकारों ने एक मत से यकार या वकार पर होने वाले अनुदात्तपूर्व या अपूर्व स्वरित को जात्य स्वरित माना है। क्षैप्र स्वरित भी संयुक्ताक्षर पर होता है, जिसका परवर्ती वर्ण निश्चित रूप से 'य्' या 'व्' होता है। इस समता के कारण ही कुछ लोग जात्य स्वरित को भी क्षैप्र संधि का रूप मानकर 'य्' तथा 'व्' को 'इ' और 'उ' जैसा उच्चारण करते हैं, जैसे—वी॒र्या॑णि (वी॒रि आ॑णि) स्व॑ (सुअ॑)। किन्तु सभी प्रातिशाख्य इस को निश्चित रूप से संधिज स्वरित से भिन्न एक स्वतन्त्र स्वरित मानते हैं।

अतोऽन्यत्स्वरितं स्वारं जात्यमाचक्षते पदे (ऋ० प्रा० ३.८), इस सूत्र के भाष्य में उवट ने यह मत व्यक्त किया है कि यह बिना उदात्त तथा अनुदात्त के संयोग के ही स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होता है। जाति या प्रकृति

सयकारं सवं वाप्यक्षरं स्वरितं भवेत्।
न चोदात्तं पुरस्तात्स्याज्जात्यः स्वर्दूर्त्य एव तु ॥ मा० शि० ७.५.।

सयकारं सवं वापि अक्षरं स्वरितं भवेत्।
न चोदात्तं पुरस्तस्य जात्यः स्वारः स उच्यते ॥ ना० शि० २.१.१।

सयकारवकारं त्वक्षरं यत्र स्वर्यते स्थिते पदेऽनुदात्तपूर्वेऽपूर्वे वा नित्य इत्येव जानीयात्। तै० प्रा० २०.२.।

से उत्पन्न होने के कारण इसको जात्य स्वरित कहते हैं।[1] क्षैप्र संधि में जो 'य्' तथा 'व्' दिखाई पड़ते हैं, वे मूल नहीं, बल्कि 'इ' तथा 'उ' के अलग-अलग संधिज रूप हैं। किन्तु जात्य स्वरित में जो 'य्' तथा 'व्' दिखाई पड़ते हैं, वे मूल वर्ण हैं, संधिज नहीं।

पाणिनि ने जात्य स्वरित के लिये तित्स्वरितम् (६ १·१८२), इस सूत्र का विधान किया है, अर्थात् जिस शब्द के साथ त्-इत्-संज्ञक प्रत्यय लगते है, वहां जात्य स्वरित होता है। इस प्रकार पाणिनि के अनुसार भी जात्य स्वरित में 'य्' तथा 'व्' संधिज न होकर प्रत्ययांश होते हैं। कुन्यां शब्द कनी<कन+यत् से बना है। पाणिनि ने इस स्वरित का स्वतन्त्र रूप से विधान किया है। क्वं में जो स्वरित होता है वह भी पाणिनि के अनुसार किमोऽत् (पा० ५.३.१२) से 'किम्' में 'अत्' प्रत्यय होकर तित्स्वरितम् (पा० ६.१.१८२) से ही सिद्ध होता है। इस प्रकार पाणिनि इस स्वरित में उदात्त-अनुदात्त की संधि की कल्पना नहीं करते।

'ऋग्वेद प्रातिशाख्य', 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' तथा 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' में जात्य स्वरित की सत्ता एक पद में बताई गई है। एक पद का क्या अभिप्राय है? संहिता में तो पूरे पाद को एक इकाई मानकर स्वरों का उच्चारण होता है। उसमें पद का स्वरूप मूल रूप में न होकर विकृत रूप में होता है। इस प्रकार संहिता में एक स्वर दूसरे से प्रभावित होता रहता है। संहिता में जात्य स्वरित से पूर्व उदात्त भी हो सकता है, किन्तु यह उदात्त स्वर उस पद में नहीं होगा जिस पद में जात्य स्वरित है। जात्य स्वरित उदात्त के ही स्तर का होता है। जिस प्रकार एक पद में उदात्त स्वतन्त्र रूप से आता है, उसके साथ कोई दूसरा उदात्त (कतिपय द्व्युदात्त पदों को छोड़ कर) नहीं आता, उसी प्रकार जात्य स्वरित एक पद में स्वतन्त्र रूप से आता है। यह एक पद में उदात्त के साथ कभी नहीं आ सकता। एक पद में दो या तीन उदात्त तक की सम्भावना की जा सकती है, किन्तु एक पद में एक स्वरित से अधिक स्वरितों की सम्भावना नहीं की जा सकती। इस प्रकार जात्य स्वरित एक पद में बिना उदात्त के या बिना अन्य स्वरित के

1. स्वरूपेणैवोदात्तानुदात्तसंगतिं विना जातो जात्यः।

उवट, ऋ० प्रा० भा० ३.८।

होता है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि जिस पद की सत्ता अलग रूप से हो, यानी पदपाठ में जिसकी सत्ता हो, उस पद में अनुदात्तपूर्व या अपूर्व स्वरित जात्य स्वरित होगा। अनुदात्तपूर्व या अपूर्व का मतलब यह नहीं कि संहिता में स्वरित से पूर्व अनुदात्त हो या कोई स्वर न हो, बल्कि उसका अभिप्राय यह है कि उस पद में स्वरित से पूर्व अनुदात्त हो या कोई स्वर न हो। संहिता में अनुदात्तपूर्व या अपूर्व का रूप अच्छी प्रकार से नहीं देखा जा सकता है, क्योंकि क्वं पद से पूर्व यदि पूर्वपद आद्युदात्त या मध्योदात्त पद है तो क्वं से पूर्ववर्ती वर्ण निश्चित रूप से अनुदात्त होगा, क्योंकि आद्युदात्त या मध्योदात्त होने पर अन्तिम वर्ण अनुदात्त होगा और उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः के अनुसार स्वरित हो जाना चाहिये, किन्तु पुनः जात्य स्वरित के कारण न चेदुदात्तस्वरितोदयम् के अनुसार वह स्वरित न होकर अनुदात्त ही होगा। किन्तु जात्य स्वरित के लिये जो अनुदात्तपूर्वता कही गई है वह इस प्रकार की अनुदात्तपूर्वता नहीं। इसीलिये 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' (२०. २) में आये 'पदे' पद का भाष्य 'त्रिभाष्यरत्न' 'पदकाले' करता है। पदपाठ में जात्य स्वरित का अनुदात्तपूर्वत्व या अपूर्वत्व स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह जात्य स्वरित संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ तथा जटापाठ आदि में सर्वत्र मिलता है। सर्वत्र इसकी सत्ता होने के कारण ही इसे नित्य स्वरित कहा गया है।

'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के भाष्य 'वैदिकाभरण' में जात्य स्वरित के विषय में ऐसा उल्लेख है कि वह संधि में भी माना जा सकता है, यदि उसके उत्तरपद का स्वतन्त्र रूप से पदरूप में अस्तित्व न हो, जैसे—न्यंञ्चम् (तै०स० ५.५.३); न्यंङ् (तै० सं० २.४.१०); व्युंप्तकेशाय (तै० सं० ४.५.५), कुहैं (तै०सं० १.८.८), इत्यादि। इन उदाहरणों में क्षैप्र स्वरित की संभावना की जा सकती है, किन्तु 'वैदिकाभरण' के अनुसार 'तैत्तिरीय-संहिता' में इनको नित्य स्वरित ही मानेंगे[1], क्योंकि ये पद इसी रूप में उपलब्ध होते हैं। पदपाठ में भी वे इसी रूप में रहते हैं। तैत्तिरीय-शाखा में जिन

---

१. न्यंङ् व्युंप्तकेशाय, न्यंञ्चम् कुहैं इत्यादौ क्षैप्रतामवधारयति। तत्र हि मूलशास्त्रोक्तादवयवविभागात् क्षैप्रता संभाव्यते। अस्मच्छास्त्रे तु पदकालपरिकल्पित-विभागसिद्धानामेव पदानां संधौ यवकारभावः क्षैप्रलक्षणमिष्यते। तस्मात् न्यंङ् न्यंञ्चम् इत्यादि स्वरिता अपि नित्या एव। तै० प्रा० वै० २०.२.।

पदों के अवयव का विभाग पदपाठ काल में किया जा सके वहीं 'इ', 'उ' की यकार-वकार-भाव-रूपसंधि क्षैप्र संधि होगी और उसका स्वर क्षैप्र स्वरित होगा, अन्यथा उसका विभाग न होने पर वह नित्य स्वरित होगा। 'वैदिकाभरण' के इस कथन से ही उन लोगों का मत खण्डित हो जाता है, जो जात्य को क्षैप्र का ही एक रूप मानकर 'वीर्याणि आदि को 'वीरि आणि' के रूप में दो पद मानते हैं।

सामान्य स्वरित

उदात्त स्वर के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित के रूप में बदल जाता है, इसी को सामान्य स्वरित कहते हैं।[1] इसका स्वरितत्व पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती उदात्त पर आश्रित होता है। उन्हीं के अनुसार यह अपना रूप धारण करता है। जिस प्रकार किसी राजा के नौकर राजा की इच्छा के अधीन होते है, उसी प्रकार यह स्वरित भी उदात्त के अधीन होता है। यदि इसके पूर्व उदात्त नहीं तो इसकी भी सत्ता नहीं। अग्निमीळे (ऋ० वे० १.१.१) में 'मीं' पर जो स्वरित है वह पूर्ववर्ती 'ग्नि' के उदात्त पर आश्रित है। यदि 'ग्नि' उदात्त न होता तो 'मीं' का स्वर स्वरित नहीं होता। जिस प्रकार किसी नए राजा के आगमन पर पूर्ववर्ती राजा के नौकर आने वाले राजा के सामने अपने को मूल रूप में ही सामने रखते है और पूर्ववर्ती राजा के प्रभाव के कारण अपने अन्दर हुए परिवर्तनों को छोड़ देते हैं, उसी प्रकार यह स्वरित भी परवर्ती उदात्त के आ जाने पर अपना पूर्व स्वरितत्व धर्म छोड़कर अपने मूल रूप अनुदात्त में ही आ जाता है। इस प्रकार का स्वरित हर प्रकार से उदात्त पर आश्रित होने के कारण 'आश्रित स्वरित' भी कहलाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसका 'आश्रित स्वरित' (Dependent Svarita) के

---

1. उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम्। ऋ० प्रा० ३.७।
उदात्तात्परोऽनुदात्तः स्वरितम्। तै० प्रा० १४.२९।
उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः। पा० ८.४.६६।
उदात्तादुत्तरो नीचस्संधाने स्वरितस्स्मृतः। कौ शि० ९।
उदात्तान्निहितः स्वारः स्वरितात्प्रचयो भवेत्।
उदात्तात्स्वरितात्पूर्वो नान्यमापद्यते स्वरम्॥ या० शि० १.८७।
उदात्तान्निहितः स्वार्यः स्वारोदात्तौ न तत्परौ। या० शि० १.८९।

रूप में ही उल्लेख किया है। पाश्चात्य विद्वानों का यह मत कि 'आश्रित स्वरित' परवर्ती उदात्त के कारण अनुदात्त में परिवर्तित हो जाता है, ठीक नहीं। स्वरितत्व धर्म ग्रहण करना ही परिवर्तन है। अनुदात्त तो उस वर्ण के स्वर का अपना मूल धर्म है। किसी कारणवश मूल अनुदात्त ने स्वरितत्व धर्म स्वीकार कर लिया था, किन्तु उसके बाद पुनः उदात्त के आ जाने पर वह अपने धर्म-परिवर्तन को छोड़ कर अपने मूल अनुदात्तत्व धर्म को ग्रहण कर लेता है। इस बात का उल्लेख आचार्य पाणिनि ने स्वर-प्रक्रिया के प्रारम्भिक सूत्र में ही कर दिया है। एक पद में एक वर्ण को छोड़ कर शेष वर्ण अनुदात्त होते हैं[1], यह सामान्य नियम है। एक पद में कभी-कभी दो या तीन वर्ण भी उदात्त होते हैं। पाणिनि के इस सूत्र का यही अभिप्राय है कि एक पद में एक वर्ण या किसी नियम-विशेष से दो या तीन वर्णों को छोड़ कर शेष वर्ण अनुदात्त होते हैं। संहिता में पूर्ववर्ती वर्ण उदात्त होने के कारण उदात्तपूर्व अनुदात्त स्वरितत्व धर्म स्वीकार कर लेता है। चूंकि ये संहिता में ही स्वरित होते हैं, इसीलिए इनको सांहितिक स्वरित या सन्निधिज स्वरित भी कहा जाता है। ये स्वरित वास्तव में अनुदात्त ही हैं। संहिता में उदात्त की छाया स्वरित के रूप में दिखाई पड़ती है, ऐसा मानकर आचार्य विश्वबन्धु जी ने इस प्रकार के स्वरित का 'छाया-स्वरित'[2] के नाम से उल्लेख किया है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने सन्निधिज स्वरित को भी एक स्वतन्त्र भेद मान कर स्वरित के ९ भेद माने हैं।[3] किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है। सन्निधिज स्वरित पादवृत्त, तैरोव्यञ्जन तथा तैरोविरामक से भिन्न नहीं, बल्कि वह एक वर्ग है, जिसके अन्तर्गत ये तीनों स्वरित-भेद आते हैं।

१. पादवृत्त स्वरित—संहिता में दो पदों में जब पूर्वपदान्त उदात्त हो और उत्तरपदादि अनुदात्त पूर्ववर्ती उदात्त के कारण स्वरित हो, तथा दोनों पदों के बीच विवृत्ति हो, उसे पादवृत्त या वैवृत्त स्वरित कहते

---

१. अनुदात्तं पदमेकवर्जम्। पा० ६.१.१५८।

२. वेदसार, परिशिष्ट (१), पृ० १४७।

३. वैदिक-स्वर-मीमांसा। पृ० २८-२९।

हैं।[1] संहिता में जहां पदान्तीय तथा पदादि दो स्वरों की संधि नहीं होती उसे विवृत्ति कहते हैं।[2] यह विवृत्ति दो प्रकार की होती है—एक विवृत्ति वह होती है जो एक ही पद के अन्दर होती है, इसे अन्तःपद-विवृत्ति कहते हैं, जैसे—पुरएता (ऋ० वे० ९.९७.२९), तितंउना (ऋ० वे० १०.७१.२), प्रउंगम् (ऋ० वे० १०.१३०.३), तथा नमंउक्तिभिः (ऋ० वे० ८.४.६)। दूसरी विवृत्ति वह है जो दो पदों के बीच होती है, इसे पदविवृत्ति कहते हैं, जैसे—य इन्द्र (ऋ० वे० ८.१२.१)। द्वितीय प्रकार की विवृत्ति से युक्त दो पदों में जब पूर्वपदान्त उदात्त हो और उत्तर-पदादि अनुदात्त हो तो संहिता में विवृत्ति से व्यवहित होने पर भी उत्तर-पदादि अनुदात्त को स्वरित हो जाता है। इसी को पादवृत्त स्वरित या वैवृत्त स्वरित कहते हैं। जैसे—य इन्द्र (ऋ० वे० ८.१२.१)।

पादवृत्त स्वरित के विषय में प्रायः सभी प्रातिशाख्य तथा शिक्षा एक मत से स्वीकार करते हैं कि यह दो पदों के बीच द्वितीय पदादि पर ही होता है। 'याज्ञवल्क्य शिक्षा', 'नारदीय शिक्षा' तथा 'शैशिरीय शिक्षा' में लक्षण के साथ ही क्रमशः श्वित्र आंदित्य तथा क ईं वेद, ये जो उदाहरण दिये गये हैं, वे दो पदों के बीच विवृत्तियुक्त स्वरित का ही समर्थन करते हैं। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में पदवृत्ति संधि का उल्लेख किया गया है। यह पदवृत्ति संधि दो पदों के बीच ही होती है। इसमें एक बार संधि होने के बाद पुनः उस संधिज स्वर से परवर्ती स्वर की संधि नहीं होती। उदात्त और स्वरित के बीच इस प्रकार की

---

१. उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्त्या······।
स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्। ऋ० प्रा० ३.१७।
पदविवृत्त्यां पादवृत्तः। तै० प्रा० २०.६।
विवृत्तिलक्षणः पादवृत्तः। वा० प्रा० १.११९।
स्वरे च स्वरिते चैव विवृत्तिर्यत्र दृश्यते।
पादवृत्तो भवेत्स्वारः 'श्वित्रऽआंदित्य' दर्शनम्॥ या० शि० १.८८।
पादवृत्ताभिधस्स्वारो विवृत्तौ यः पदस्य तु॥ कौ० शि० १७।
स्वरिते स्वरितं यत्र विवृत्त्या यत्र संहिता।
तं पादवृतं जानीयात्ते त्वस्मिन्यवमादधुः॥ मा० शि० ७.७।
पादवृत्तः 'क ईं वेद'। ना० शि० २.१.९।

२. स्वरान्तरं तु विवृत्तिः। ऋ० प्रा० २.३।

पदवृत्ति होने पर स्वरित पादवृत्त कहलाने लगता है। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' तथा 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' के भाष्य में आचार्य उवट ने पादवृत्त स्वरित के जो उदाहरण दिये हैं वे दो पदों के बीच ही हैं। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के भाष्यकार सोमयार्य ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि दो पदों में जो विवृत्ति होती है, उसे पदविवृत्ति कहते हैं, और उस पदविवृत्ति में जो स्वरित होता हैं, वह पादवृत्त स्वरित कहलाता है।[1] किन्तु 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के दूसरे भाष्यकार गार्ग्यगोपाल यज्वा को दो पदों के बीच होने वाली विवृत्ति में जो स्वरित होता है, उसे पादवृत्त कहना मान्य नहीं। गार्ग्यगोपाल यज्वा ने 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के 'वैदिकाभरण' नामक अपने भाष्य में यह मत व्यक्त किया है कि एक पद के अन्दर दो स्वरों के बीच जो विवृत्ति होती है, उसमें पर स्वर को जो स्वरित होता है वह पादवृत्त स्वरित होता है; दो पदों के बीच होने वाली विवृत्ति में पाये जाने वाले स्वरित की पादवृत्त संज्ञा नहीं होती। इस प्रकार 'वैदिकाभरण' के मत में अन्तःपद-विवृत्ति में ही पादवृत्त स्वरित हो सकता है।[2] जैसे—प्रउगसुक्थम् (तै० सं० ४.४.२)। दो पदों की विवृत्ति में पादवृत्त स्वरित के विरुद्ध गार्ग्यगोपाल यज्वा का यह कहना है कि 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के पदविवृत्त्या पादवृत्तः सूत्र का अर्थ पदयोः विवृत्तिः करके दो पदों की विवृत्ति में होने वाले स्वरित को पादवृत्त मानना ठीक नहीं। यदि ऐसा किया जाता है तो लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आ जायेगा, क्योंकि यह लक्षण प्रातिहत स्वरित में भी घटेगा। 'वैदिकाभरण' का कहना है कि आचार्यों ने अतिव्याप्तियुक्त लक्षण नहीं किया है। यदि सूत्रकार को दो पदों की विवृत्ति में पादवृत्त स्वरित होने का सिद्धान्त मान्य होता तो वे निश्चित रूप से प्रातिहत को भी पादवृत्त का ही एक अवान्तर भेद मानते, किन्तु वे ऐसा नहीं मानते। उन्होंने पादवृत्त स्वरित से भिन्न प्रातिहत स्वरित भी

---

१. पदयोर्विवृत्तिः पदविवृत्तिः तस्यां यः स्वर्यते सः पादवृत्तः। यथा—'ता अस्मात्' (तै० सं० २.१.२)। 'स ईधानः' (तै० सं० ४.४.४)। 'य उपसदः' (तै० सं० ६.२.४)। तै० प्रा० त्रि० र० २०.६।

२. पदे विवृत्तिः पदविवृत्तिः। स्वरयोरसंधिर्विवृत्तिः। पदमध्यवर्तिन्याः विवृत्तेरुपरि यस्स्वरितः स खलु पादवृत्तसंज्ञो भवति। तै० प्रा० वै० २०.६।

माना है।[1] इससे यह बात स्पष्ट होती है कि पादवृत्त स्वरित दो पदों में नहीं, एक पद के अन्दर होने वाली विवृत्ति के व्यवधान में ही देखा जा सकता है। 'वैदिकाभरण' के अनुसार, य ईशानः, य इन्द्रः, स ईधानः, आदि में पादवृत्त स्वरित नहीं होगा।

इस प्रकार तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' (२०.६) के भाष्य में 'त्रिभाष्य-रत्न' तथा 'वैदिकाभरण' में मतभेद है। दोनों में किसका मत ठीक है, इसके ऊपर हमें विचार करना है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में सात प्रकार के स्वरितों का उल्लेख हुआ है—'क्षैप्र', 'नित्य', 'प्रातिहत', 'अभिनिहित', 'प्रश्लिष्ट', 'पादवृत' तथा 'तैरोव्यञ्जन'। स्वरितों के इन सात भेदों में प्रातिहत स्वरित का उल्लेख 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य', 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' तथा कुछ शिक्षा-ग्रन्थों में नहीं मिलता। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में इसका स्वतन्त्र रूप से उल्लेख हुआ है। अनेक पदों में जब पूर्वपदान्त उदात्त हो और उत्तरपदादि सांहितिक धर्म के कारण स्वरित हो, तो इस प्रकार के स्वरित को प्रातिहत स्वरित कहते हैं।[2] 'वैदिकाभरण' के अनुसार जब दो पदों में उत्तरपदादि की प्रातिहत स्वरित संज्ञा हुई, तो दो पदों की विवृत्ति में होने वाले उत्तरपदादि स्वरित की प्रातिहत से भिन्न पादवृत्त संज्ञा नहीं हो सकती, उसकी भी प्रातिहत संज्ञा ही होगी। 'वैदिकाभरण' का यह मत ठीक नहीं। प्रातिहत स्वरित की सत्ता के कारण, जो दो पदों में होता है, पादवृत्त स्वरित को एक पद में मानना ठीक नहीं। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में जिस पदवृत्ति संधि का उल्लेख किया गया है, वह अन्तःपद से भिन्न दो पदों में ही देखी जाती है। प्रातिहत में दो पदों के बीच उत्तरपदादि को सांहितिक धर्म के

---

१. नन्वयमपि पादवृत्त एव पदयोर्विवृत्तिः पदविवृत्तिरिति व्युत्पत्तेः। नैतदस्ति, पदयोर्विवृत्तौ स्वरितस्य प्रातिहतलक्षणग्रस्तत्वात् न चायं तस्यापवाद इति युक्तम्, इहासङ्कीर्णलक्षणप्रणयनात्। विधेर्ह्यपवादः न लक्षणस्य। न हि लक्षणमतिव्याप्तं कुर्वन्त्याचार्याः। अथापि कथंचित् प्रातिहतस्यावान्तरभेदत्वं पादवृत्तस्य कल्प्यते। तन्न। अबाधेनोपपत्तौ बाधस्यान्याय्यत्वात्, तदनन्तरानुपदेशाच्च। वही २०.६।

२. अपि चेन्नानापदस्थमुदात्तमथ चेत्साꣳहितेन स्वर्यते स प्रातिहतः। तै० प्रा० २०.३।

अनुसार जो स्वरित होता है, वह पादवृत्त स्वरित से भिन्न प्रकार का होता है। पादवृत्त में दोनों पदों के बीच निश्चित रूप से विवृत्ति होनी चाहिये, किन्तु प्रातिहत में विवृत्ति की आवश्यकता नहीं। जैसे—इ॒षे त्वा॑ (शु० य० सं० १.१)। यहां 'इ॒षे' और 'त्वा॒' दो पद हैं। 'इ॒षे' अन्तोदात्त है तथा 'त्वा॒' पद सर्वानुदात्त है। सांहितिक धर्म के कारण 'त्वा॑' पद का अनुदात्त स्वरित हो गया है। चूँकि 'इ॒षे' और 'त्वा॑' के बीच कोई विवृत्ति नहीं, इसलिये यहाँ पादवृत्त स्वरित न होकर प्रातिहत स्वरित ही होगा। य इन्द्र (ऋ० वे० ८. १२. १) में 'यः' और 'इ॒न्द्र॒' दो पद हैं। 'इ॒न्द्र॒' पद सम्बोधन होने के कारण सर्वानुदात्त है। सांहितिक धर्म के कारण पूर्व में उदात्त होने से यह स्वरित हो गया है। 'यः' पद का विसर्ग परवर्ती अच् के कारण लुप्त हो गया है। किन्तु 'य' के साथ परवर्ती इन्द्र पद के 'इ' की संधि नहीं हुई है, इसलिये दोनों के बीच विवृत्ति है। ऐसे स्वरित को पादवृत्त स्वरित ही कहा जायेगा, प्रातिहत नहीं। पादवृत्त तथा प्रातिहित के नामकरण का आधार यही सूक्ष्म अन्तर है। यह एक पद में भी उदात्त के बाद स्वरित होने पर तथा दोनों के बीच विवृत्ति होने पर हो सकता है।

२. तैरोव्यञ्जन स्वरित—एक पद में अथवा अनेक पदों में उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त व्यञ्जन से व्यवहित होने पर भी स्वरित हो जाता है, ऐसे स्वरित को तैरोव्यञ्जन स्वरित कहते हैं[1], जैसे—इन्द्रे॑ण॒ सं हि॒ (ऋ० वे० १.६.७); अ॒ग्निमी॑ळे (ऋ० वे० १.१.१)। प्रथम उदाहरण में इन्द्रेण एक त्र्यक्षर पद है और आद्युदात्त है, इसलिये उसके प्रथम वर्ण को छोड़ कर शेष परवर्ती वर्ण अनुदात्त

---

1. उदात्तपूर्वं नियतं······व्यञ्जनेन:वा।
स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम् ॥ ऋ० प्रा० ३.१७।
उदात्तपूर्वस्तैरोव्यञ्जनः। तै० प्रा० २०.७।
स्वरो व्यञ्जनयुतस्तैरोव्यञ्जनः। वा० प्रा० १.११७।
उदात्तपूर्वः स्वरितो व्यञ्जनेन युतो यदि।
एष सर्वो बहुस्वारस्तैरोव्यञ्जन उच्यते ॥ या० शि० १. ८२।
उदात्तपूर्वे सार्द्धे तु द्वितीये अक्षरे तु यः।
तैरोव्यञ्जन इत्येष सारः स्याद्द्धिमाध्विति ॥ मा० शि० ७.८।

होने चाहिये, किन्तु उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (पा० सू० ८.४.६६) के अनुसार उदात्त के ठीक बाद आने वाला वर्ण स्वरित हो गया है। इस पद में उदात्त 'इ' तथा स्वरित 'ए' के बीच 'न् द् र्' इन तीन व्यञ्जनों का व्यवधान है। द्वितीय उदाहरण में अग्निम् और ईळे दो पद हैं। अ॒ग्निम् अन्तोदात्त तथा ई॒ळे॒ सर्वानुदात्त है। सांहितिक स्वर-नियम के कारण ईळे का 'ई' स्वरित हो गया है। इन दोनों पदों के उदात्त और स्वरित के बीच 'म्' का व्यवधान है। इस व्यञ्जन का व्यवधान होने के कारण ही इसे तैरोव्यञ्जन स्वरित कहते हैं।

प्रातिशाख्यों, शिक्षाग्रन्थों एवं 'अष्टाध्यायी' के अनुसार उदात्त के ठीक बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है, अगर उसके परे कोई उदात्त या स्वरित न हो। इस नियम के अनुसार जो अनुदात्त ठीक उदात्त के बाद आता है, वह तो स्वरित हो जायेगा, किन्तु यदि उदात्त के बाद और अनुदात्त से पूर्व व्यञ्जनों का व्यवधान हो जाय, तो वहां अनुदात्त का स्वरित होना सम्भव नहीं, क्योंकि वह उदात्त के ठीक बाद नहीं। इस प्रकार इन्द्रेंण तथा अ॒ग्निमीळे पद में 'ए' तथा 'ई' को स्वरित नहीं हो सकता। इस प्रकार की सम्भावना को दूर करने के लिये प्रातिशाख्यकार तथा वैयाकरण स्वरविधान में व्यञ्जनों की गणना ही नहीं करते। स्वरविधान में व्यञ्जन अविद्यमानवत् समझा जाता है।[1] पं० युधिष्ठर मीमांसक का कहना है कि व्यञ्जन को अविद्यमान अर्थात् तिरोहित समझने के कारण ही प्रातिशाख्यों में इसका तैरोव्यञ्जन स्वरित नाम रखा गया है।[2] 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में 'तिरोहित' के लिये 'अन्तर्हित' शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] आचार्य उवट ने 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के भाष्य में 'अन्तर्हित' का अर्थ 'अन्तर्धान' किया है। 'अन्तर्धान' का अर्थ है वर्ण का छिप जाना, या दिखाई न पड़ना। यहां वर्ण दिखाई पड़ता है, किन्तु स्वरांकन में यह नहीं दिखाई पड़ने के बराबर है, क्योंकि इसका

---

१. व्यञ्जनान्तर्हितोऽपि । तै० प्रा० १४.३० ।

हल्स्वरप्राप्तौ वा व्यञ्जनमविद्यमानवत् । पा० वा० ६.१.२२३ ।

स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् भवति । पा० म० ६.१.२२३ ।

२. वैदिक-स्वर-मीमांसा, पृ० ३४ ।

३. स्वयंतेऽन्तर्हितम् । ऋ० प्रा० ३.१७ ।

कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुतः, तैरोव्यञ्जन का अर्थ 'व्यञ्जन का व्यवधान' है। 'वैदिकाभरण' का यही मत है।[1] 'त्रिभाष्यरत्न' में तैरोव्यञ्जन के उदाहरण में प्रउंगम् (तै० सं० ४.४.२) को भी उद्धृत किया गया है। पादवृत्त स्वरित के प्रसंग में 'त्रिभाष्यरत्न' ने प्रउंगम् में पादवृत्त स्वरित का निषेध किया है, किन्तु 'वैदिकाभरण' में उसमें निश्चित रूप से पादवृत्त स्वरित माना गया है। प्रउंगम् में 'प्र' और 'उ' के बीच विवृत्ति होने के कारण पादवृत्त स्वरित मानना तो ठीक है, किन्तु उसमें तैरोव्यञ्जन स्वरित मानना ठीक नहीं, क्योंकि इसमें किसी व्यञ्जन का व्यवधान नहीं। 'त्रिभाष्यरत्न' में प्रउंगम् को जो तैरोव्यञ्जन स्वरित माना गया है, इसका कारण एक पद में उदात्त के बाद स्वरित का होना है। 'त्रिभाष्यरत्न' के मत में व्यञ्जन-व्यवहित होना या व्यञ्जन-व्यवहित न होना तैरोव्यञ्जन के नाम का आधार नहीं है। एक पद में उदात्त के बाद स्वरित का होना तैरोव्यञ्जन है।[2] एक पद में उदात्त के बाद स्वरित व्यञ्जन से व्यवहित भी हो सकता है और अव्यवहित भी। व्यञ्जन-व्यवहित का उदाहरण है—युञ्जन्त्यस्य (तै० सं० ७.४.२०); वस्व्यसि (तै० सं० १.२.५)। व्यञ्जन से अव्यवहित होने का उदाहरण है—प्रउंगम् (तै०सं० ४.४.२)। पं० युधिष्ठिर मीमांसक त्रिभाष्यरत्नकार द्वारा तैरोव्यञ्जन स्वरित का उदाहरण प्रउंगम् देने का यह कारण बताते हैं कि त्रिभाष्यरत्नकार को तैरोव्यञ्जन का अर्थ व्यञ्जन का तिरोभाव होना भी अभिप्रेत था। त्रिभाष्यरत्नकार के अनुसार, तैरोव्यञ्जन के दो अर्थ हैं—एक, व्यञ्जन का व्यवधान और दूसरा व्यञ्जन का तिरोभाव। प्रउंगम् उदाहरण व्यञ्जन के तिरोभाव का ही है। यदि प्रउंगम् तिरोभाव का उदाहरण है तो मूल रूप में प्रउंगम् पद प्रयुंगम् रहा होगा जिसमें 'य्' का लोप होकर प्रउंगम् रह गया। यहां 'य्' की तिरोभाव होने के कारण प्रउंगम् में तैरोव्यञ्जन स्वरित

---

१. तैरोव्यञ्जन इत्यन्वर्थसंज्ञा। पदशब्दोऽत्रानुवर्तते। पदे समानपदे उदात्तपूर्वको व्यञ्जनव्यवहितो यस्स्वरितः स तैरोव्यञ्जनसंज्ञो भवति।

तै० प्रा० वै०, २०.७।

२. तस्मादेकपदस्थोदात्तपूर्वो यः स्वरितः स तैरोव्यञ्जनो वेदितव्यः। यथा—युञ्जन्त्यस्य। वस्व्यसि। स इन्द्रोऽमन्यत। तदद्वोऽभवत्। प्रउंगम्। तं त्वष्टाऽऽधत्त।

तै० प्रा० त्रि० २०, २०.७।

है। किन्तु ऐसी कल्पना ठीक नहीं, क्योंकि प्रयुंगम् में दो पद मान लेने पर 'त्रिभाष्यरत्न' के साथ ही विरोध होगा, क्योंकि पादवृत्त स्वरित के प्रसंग में त्रिभाष्यरत्नकार ने प्रउंगम् को स्पष्ट रूप से एक ही पद माना है।

अब प्रश्न यह है कि तैरोव्यञ्जन स्वरित एक पद में होता है या नाना पदों में ? 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य', 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य', 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' तथा 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' में स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख नहीं किया गया है कि तैरोव्यञ्जन स्वरित एक पद में होता है या नाना पदों में। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' तथा 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' के भाष्यों में उवट ने तैरोव्यञ्जन स्वरित के जो उदाहरण दिये हैं, उनसे यह मालूम पड़ता है कि वे तैरोव्यञ्जन स्वरित की सत्ता एक पद एवं अनेक पदों में मानते हैं। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के भाष्य 'त्रिभाष्यरत्न'[१] एवं 'वैदिकाभरण'[२] दोनों तैरोव्यञ्जन स्वरित की सत्ता निश्चित रूप से एक पद में मानते हैं। 'त्रिभाष्यरत्न' के अनुसार दो पदों में होने वाला स्वरित प्रातिहत या पादवृत्त स्वरित होता है। 'वैदिकाभरण' के अनुसार दो पदों में होने वाला स्वरित केवल प्रातिहत स्वरित होता है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में तैरोव्यञ्जन से भिन्न दो पदों में होने वाले पदादि स्वरित की जो 'प्रातिहत' संज्ञा दी गई है, उससे यह मालूम होता है कि 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के रचयिता को तैरोव्यञ्जन स्वरित की सत्ता एक पद में मान्य थी। अन्यथा यदि दो पदों में भी तैरोव्यञ्जन स्वरित को माना जाय तो प्रातिहत स्वरित व्यर्थ हो जायेगा। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' प्रातिहत स्वरित को अलग से न मानकर, दो पदों में व्यञ्जन के व्यवधान में होने वाले स्वरित को भी तैरोव्यञ्जन स्वरित ही मानता है। वस्तुतः, जो प्रातिहत स्वरित की सत्ता नहीं मानते, वे तैरोव्यञ्जन को एक पद तथा दो पदों में मानते हैं, किन्तु जो प्रातिहत स्वरित की सत्ता मानते हैं, वे तैरोव्यञ्जन स्वरित को केवल एक पद में ही मानते हैं। 'नारदीय

---

१. उदात्तपूर्वाधिकारे सति पुनरत्र तत्कथनादेकपदस्थोदात्तविशेषोऽवगम्यते। तस्मादेकपदस्थोदात्तपूर्वो यः स्वरितः स तैरोव्यञ्जनो वेदितव्यः।

तै० प्रा० त्रि० र०, २०.७।

२. द्रष्टव्य, पीछे पृ० ४३, टि० १।

शिक्षा' तथा 'शैशिरीय शिक्षा' प्रातिहत स्वरित को स्वरित का अलग भेद नहीं मानतीं, फिर भी उनमें तैरोव्यञ्जन स्वरित को एक पद में ही माना गया है, क्योंकि दोनों शिक्षाओं में तैरोव्यञ्जन का उदाहरण ऊतयें मिलता है। यदि इन शिक्षाओं को नाना पदों में भी तैरोव्यञ्जन स्वरित की सत्ता मान्य होती, तो ये निश्चित रूप से दो पदों का भी उदाहरण देतीं। 'माण्डूकी शिक्षा' भी प्रातिहत स्वरित का उल्लेख नहीं करती, फिर भी उसमें तैरोव्यञ्जन स्वरित का जो उदाहरण दधिं, मधुं दिया गया है वह एक पद का है। 'कौहलि शिक्षा' में प्रातिहत तथा तैरोव्यञ्जन दोनों स्वरितों का उल्लेख हुआ है। किन्तु इनका उदाहरण उसमें नहीं मिलता। 'कौहलि शिक्षा' तैत्तिरीय-शाखा की है, इसलिये ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उसे भी एक पद में तैरोव्यञ्जन स्वरित मान्य होगा। 'नारदीय शिक्षा', 'शैशिरीय शिक्षा' तथा 'माण्डूकी शिक्षा' में प्रातिहत की सत्ता न मानने पर भी एक पद में जो तैरोव्यञ्जन का उदाहरण मिलता है, वह उपलक्षण मात्र है, क्योंकि बिना प्रातिहत की सत्ता स्वीकार किये एक पद में तैरोव्यञ्जन नहीं माना जा सकता। इन शिक्षाओं में दो पदों में तैरोव्यञ्जन स्वरित का उदाहरण न मिलने पर भी हम यही मानेंगे कि इनको दो पदों में भी तैरोव्यञ्जन स्वरित मान्य था।

३. तैरोविराम स्वरित—इस स्वरित-भेद का उल्लेख प्रातिशाख्यों में केवल 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में हुआ है। 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' 'नारदीय शिक्षा', 'शैशिरीय शिक्षा' तथा 'माण्डूकी शिक्षा' में भी इसका लक्षण एवं उदाहरण दिया गया है। समस्तपद में जब पूर्वपदान्त उदात्त हो और उत्तरपदादि अनुदात्त संहिता में सांहितिक धर्म के कारण स्वरित होने के साथ ही पदपाठ में भी दोनों पदों के बीच अवग्रह का व्यवधान होने पर भी स्वरित ही रहे, तो पदपाठ में अवग्रह के बाद होने वाले स्वरित को तैरोविराम स्वरित कहते हैं।[1] अवग्रह एक प्रकार का विराम होता है, जो मात्रा काल का होता है। सांहितिक धर्म के अनुसार

१. उदवग्रहस्तैरोविरामः। वा० प्रा० १.११८।
अवग्रहात् परो यस्तु स्वरितः स्यादनन्तरः।
तैरोविरामं तं विद्यादुदात्तो यद्यवग्रहः॥ या० शि० १.८३।
अवग्रहात्परं यत्र स्वरितं स्यादनन्तरम्।
तैरोविरामं जानीयात् प्रजापतेर्निदर्शनम्॥ मा० शि० ७.९।

उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है, किन्तु विराम के बाद आने वाले अनुदात्त को स्वरित नहीं हो सकता। अवग्रह भी एक प्रकार का विराम है, इसलिये इसके बाद आने वाले अनुदात्त का उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः के अनुसार स्वरित नहीं हो सकता, क्योंकि विराम के कारण पूर्व उदात्त का क्षेत्र विराम के पहले ही समाप्त हो जाता है। किन्तु 'ऋग्वेद-संहिता' तथा 'वाजसनेयि-संहिता' के पदपाठ में अवग्रह का व्यवधान होने पर भी यदि पूर्वपदान्त उदात्त है और उत्तरपद सर्वानुदात्त है, तो उत्तरपदादि अनुदात्त स्वरित में परिवर्तित हो जाता है[1], क्योंकि अवग्रह-रूप विराम का व्यवधान नहीं समझा जाता। पदपाठ में भी वह संहितावत् समझा जाता है जैसे—विस्कंभिते इति विऽस्कंभिते (ऋ० वे० प० ६.७०.१); गोपंताविति गो। पंतौ (शु० य० प० १.१)। उदात्त और स्वरित के बीच अवग्रहरूप विराम का व्यवधान होने के कारण ही इस स्वरितभेद को तैरोविराम स्वरित कहते हैं। अवग्रह चूंकि पदपाठ में ही दो पदों का विच्छेद दर्शाने के लिये लगाया जाता है, इसलिये यह स्वरित केवल पदपाठ में ही देखा जा सकता है। संहिता में तो यह तैरोव्यञ्जन स्वरित ही माना जाता है।[2] 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में इसी कारण तैरोविराम स्वरित का उल्लेख अलग से नहीं किया गया है, यद्यपि ऋग्वेद के पदपाठ में इस स्वरित की सत्ता दिखाई पड़ती है। ऋग्वेद की 'शैशिरीय शिक्षा' में इसका उल्लेख किया गया है, किन्तु इसका लक्षण न बता कर केवल उदाहरण ही दिया गया है।[3]

---

१. यथा संधीयमानानामनेकीभवतां स्वरः।
उपदिष्टस्तथा विद्यादक्षराणामवग्रहे ॥ ऋ० प्रा० ३.२४।
संहितावदवग्रहः स्वरविधौ परं च सर्वं चेदनुदात्तम्। वा० प्रा० १.१४८।

अवग्रहः स्वरविधौ स्वरचिन्तायां संहितावत्स्वरं लभते। इतिकरणेन सह संधौ तस्मिश्च सावग्रहे पदे द्वे भवतः तत्र पूर्वपदं तावदितिकरणेन सह संधौ संहितावत्स्वरं लभते। परं च अवग्रहात्परं पदं संहितावत्स्वरं लभते। यदि तत्सर्वमनुदात्तं भवति। यदि स्वतन्त्रं किंचिदक्षरमुदात्तं वा स्वरितं वा भवति तदा स्वकीयया प्रकृत्या भवति। उवट, वा० प्रा० भा० १.१४८।

२. उदात्तावग्रहस्तैरोविरामसंज्ञकः स्वरो भवति। अयं च समस्तपदेषु भवति अवग्रहवचनात्, अवग्रहाभावे तु तैरोव्यञ्जन एव।
उवट, वा० प्रा० भा, १.११८।

३. तिरोविरामो 'विष्कंभिते'। शैं० शि०।

'तैत्तिरीय-संहिता' के पदपाठ में तैरोविराम स्वरित नहीं होता, क्योंकि वहाँ अवग्रह को विराम मान लिया जाता है[1] और विराम के कारण पूर्ववर्ती उदात्त का प्रभाव उत्तरपदादि अनुदात्त पर नहीं पड़ता; इसलिये पदपाठ में अवग्रह के बाद आने वाला अनुदात्त 'तैत्तिरीय-संहिता' में स्वरित न होकर अनुदात्त ही रहता है, जैसे—प्रजापतिरिति प्रजा । पतिः (तै० सं० प० १.४.४४.१)। संहिता में अवग्रह न होने के कारण 'तैत्तिरीय-संहिता' में समस्तपद के उत्तरपदादि में आने वाले स्वरित को प्रातिहत स्वरित कहा जाता है, जो 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य', 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' आदि के अनुसार तैरोव्यञ्जन स्वरित ही है।

'तैत्तिरीय-संहिता' के पदपाठ के समान ही सामवेद के पदपाठ में भी अवग्रह के बाद आने वाले उत्तरपदादि अनुदात्त को स्वरित नहीं होता; अवग्रह के बाद आने वाला अनुदात्त ज्यों का त्यों रह जाता है, जैसे—विश्ववेदसम् विश्व वेदसम् (सा० वे० प० १.१.२.२) दिवेदिवे दिवे दिवे (सा० वे० प० १.१.२.४)। सामवेद के पदपाठकार को तैरोविराम स्वरित की सत्ता मान्य नहीं। यदि उन्हें यह स्वरित-भेद मान्य होता तो वे निश्चित रूप से अवग्रह के बाद आने वाले अनुदात्त को स्वरित मानते। किन्तु, सामवेद की 'नारदीय शिक्षा' में तैरोविराम स्वरित की सत्ता मानी गई है। उसमें तैरोविराम स्वरित के उदाहरण के रूप में विष्कंभिते उपस्थित किया गया है। किन्तु सामवेद के पदपाठकार गार्ग्य ने विष्कंभिते का पदपाठ विष्कंभिते वि स्कंभिते इति (सा० वे० प० १.४.३.९) किया है। इस पदपाठ में 'स्क' को स्वरित न होकर अनुदात्त ही है। 'नारदीय शिक्षा' में 'विष्कंभिते' को तैरोविराम स्वरित मानना तथा गार्ग्य के पदपाठ में तैरोविराम का न होना यह जो असंगति है, इसके लिये कुछ सम्भावनायें की जा सकती हैं। पहली सम्भावना यह हो सकती है कि सामवेद का, गार्ग्य के पदपाठ से

---

१. 'अवग्रहाणामन्ते च विरामो मात्रिकस्मृतः'।

तै० प्रा० वै० २२.१३ में उद्धृत।

भिन्न, कोई दूसरा पदपाठ होगा, जिसमें अवग्रह के बाद आने वाले अनुदात्त को स्वरित माना जाता होगा। उसी पदपाठ का अनुसरण करके 'नारदीय शिक्षा' में विष्कंभिते में तैरोविराम स्वरित का उल्लेख किया गया है। दूसरी सम्भावना यह हो सकती है कि 'नारदीय शिक्षा' में जो तैरोविराम स्वरित का उल्लेख किया गया है, उसका कारण यह है कि सभी शिक्षायें अपनी शाखा में किसी विशेष कारण से अप्रचलित, किन्तु अन्य शाखाओं में प्रचलित सिद्धान्त का समान रूप से उल्लेख करती हैं। शाखा-विशेष के किसी विशेष सिद्धान्त का उल्लेख शिक्षा में न होकर प्रातिशाख्यों में हुआ है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य की भूमिका में उवट ने यही मत व्यक्त किया है।[1]

'तैत्तिरीय-संहिता' तथा 'साम-संहिता' के पदपाठ में समस्तपद का यदि पूर्वपदान्त उदात्त हो तो उत्तरपदादि अनुदात्त उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः के अनुसार स्वरित नहीं होता। इसका कारण यह है कि पदपाठ में समस्तपद को अपने स्वाभाविक स्वर में रखने के बाद उसके दोनों पदों को अलग-अलग रखा जाता है। अलग-अलग रखने का अभिप्राय यहां यही है कि दोनों पद स्वतन्त्र रूप में उपस्थित हों। अगर स्वर का प्रभाव उत्तरपद पर पड़ा तो फिर पदपाठ कैसा? वह तो संहितापाठ ही हो जायेगा। 'वाजसनेयि संहिता' के पदपाठ में भी यदि समस्तपद का पूर्वपद अन्तोदात्त नहीं है और उत्तरपद सर्वानुदात्त है, तो वहां अवग्रह को विराम ही मान लिया जाता है और अवग्रह के बाद उत्तरपद सर्वानुदात्त ही होता है। यदि पूर्वपद के साथ उसका स्वर-सम्बन्ध होता तो वह प्रचय हो जाता, जैसे—वर्हितमुमिति वर्हि। तुमम्। समस्तपद सर्वानुदात्त होने पर पदपाठ में इतिकरण के बाद उत्तरपद संहितावत् नहीं समझा जाता। अवग्रह के बाद वाला उत्तरपद स्वतन्त्र समझा जाता है, जैसे—गृहपत इति गृह। पते। अन्तोदात्त तथा मध्योदात्त समस्त पद में काण्व-शाखा वालों के अनुसार पदपाठ में इति के बाद पूर्वपद इति के साथ संहितवत् समझा जाता है, किन्तु उत्तरपद असंहितवत् समझा जाता है, जैसे—द्रोणकलश इति द्रोण।

---

1. एवं शिक्षाछन्दोव्याकरणैर्यत्सर्वासु शाखासु सामान्येन लक्षणमुच्यते तदेवास्यां शाखायामनेन व्यवस्थाप्यत इत्येतत् प्रयोजनमस्याङ्गस्य।

उवट, ऋ० प्रा० भा० भूमिका।

कुलशः (शु० य० प० १८.२१); ऊर्णासूत्रेणेत्यूर्णा। सूत्रेर्ण (शु० य० प० १९.८०)। काण्व-शाखा वालों के अनुसार आद्युदात्त समस्तपद में उत्तर-पद को पदपाठ में संहितवत् समझा जाता है, जैसे—सोमंगोपा इति सोमं। गोपाः (का० सं० प० १३.२.५); सस्निंतमम्मिति सस्निं। तमम् (का० सं० प० १.३.५)। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'माध्यन्दिन-संहिता' में समस्तपद का पूर्वपद यदि अन्तोदात्त है, तब उत्तरपद पदपाठ में संहितवत् समझा जाता है; यदि पूर्वपद आद्युदात्त हो या मध्योदात्त हो तो उत्तरपद पदपाठ में असंहितवत् समझा जाता है। यदि पूर्वपद सर्वानुदात्त है तो पदपाठ में इति के बाद पूर्वपद तो संहितवत् समझा जाता है, किन्तु उत्तरपद असंहितवत् समझा जाता है। 'काण्व-संहिता' में यदि समस्तपद आद्युदात्त है तो भी उत्तरपद संहितवत् ही समझा जाता है।[१] 'तैत्तिरीय-संहिता' तथा 'साम-संहिता' में सर्वत्र उत्तरपद को असंहितवत् ही माना जाता है। तैरोविराम स्वरित की सत्ता वहीं पर है, जहां पदपाठ में उत्तरपद को संहितवत् समझा जाता हैं।

४. ताथाभाव्य स्वरित—'वाजसनेयि प्रातिशाख्य', 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' तथा 'माण्डूकी शिक्षा' में ताथाभाव्य स्वरित का उल्लेख हुआ है। अन्य किसी भी प्रातिशाख्य में इसका उल्लेख नहीं मिलता। इस स्वरित-भेद के विषय में बहुत मतभेद है। तैरोविराम स्वरित के समान ही इसकी भी सत्ता पदपाठ में स्वीकृत है। 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' तथा 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' के अनुसार यदि दो उदात्त वाले समस्तपद में दो उदात्तों के बीच अनुदात्त हो और वह अनुदात्त पूर्वपद के अन्त में हो तो इसे ताथाभाव्य स्वरित कहते हैं,[२] जैसे—तनूनप्त्रे (शु० य० ५.५)। यहां तनूनप्त्रे इस समस्तपद में 'त' और 'न' दो उदात्त वर्ण हैं और दोनों के बीच 'नू' अनुदात्त है। यह 'नू' पूर्ववर्ती उदात्त के कारण स्वरित होना चाहिये था, किन्तु उत्तरवर्ती उदात्त के कारण 'नू' का अनुदात्त स्वर

---

१. उदात्तमयोऽन्यत्र नीच एव। वा० प्रा० १.१५०।

काण्वस्येति वर्त्तते अन्तोदात्तमध्योदात्तयोः पर्वणोरन्यत्र इतिकरणात्परो नीच उदात्तमय एव भवति। प्रचित एव भवतीत्यर्थः। उवट, वा० प्रा० भा० १.१५०।

२. उदाद्यन्तो न्यवग्रहस्ताथाभाव्यः। वा० प्रा० १.१००।

उदात्ताक्षरयोर्मध्ये भवेन्नीचस्त्ववग्रहः।

ताथाभाव्यो भवेत्स्वारस्तनूनप्त्रे निदर्शनम्॥ या० शि० १.८५।

ज्यों का त्यों रह गया। इस 'ज्यों के त्यों भाव' के कारण ही इस अनुदात्त को ताथाभाव्य स्वर कहते हैं। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में इसको 'विक्रम स्वर'[1] कहा गया है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जब ताथाभाव्य स्वर स्वरित नहीं अनुदात्त ही है, तो इसकी स्वरित-भेदों के अन्तर्गत क्यों गिनती की गई है ? इसके समाधान में आचार्य उवट का कहना है कि माध्यन्दिन तथा काण्व शाखा की संहिताओं के पदपाठ में तनूनप्त्रे पद तनूनप्त्र इति तनू। नप्त्रे होता है। किन्तु यहां पूर्वपद एवं उत्तरपद संहितवत् होने के कारण तनू का नू अनुदात्त ही रह जाता है। इस प्रकार माध्यदिन तथा काण्व किसी में भी 'नू' को स्वरित की प्राप्ति नहीं होती, फिर भी इसका ताथाभाव्य स्वरित के रूप में उल्लेख किया गया है। उवट का कहना है कि 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में जो यह ताथाभाव्य स्वरित का विधान किया गया है, वह माध्यन्दिन तथा काण्व शाखा की संहिता के पदपाठ को लक्ष्य कर नहीं है। यह मत किसी अन्य आचार्य का है, जिसकी शाखा में तनूनप्त्रे पद पदपाठ में तनूनप्त्र इति तनूं। नप्त्रें होता होगा।[2] इसी अभिप्राय से 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' एवं 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' में ताथाभाव्य स्वरित का उल्लेख किया गया है। यदि किसी भी शाखा में यह प्रचलित न होता तो इसका उल्लेख यहां स्वरित-भेदों के अन्तर्गत नहीं हुआ होता।

यह ताथाभाव्य स्वरित माध्यन्दिन संहिता में नहीं होता, इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' में किया गया है।[3] माध्यन्दिन-शाखा वालों में यह एक कम्प माना जाता है, ऐसा औज्जिहायनक का मत है। ताथाभाव्य कम्प के विषय में आगे कम्पस्वर के प्रकरण में बताया जायेगा।

---

१. स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचꣳस्यादुदात्तयोर्वाऽन्यतरतो वोदात्तस्वरितयोः स विक्रमः। तै० प्रा० १९.१।

२. यस्तु ताथाभाव्यस्य स्वरितानां मध्ये पाठः अयमन्येषामाचार्याणां मतेन। तेषां हि मतेन तनूशब्दः संहितावद् भवति। अतोऽसौ स्वरितो भवति तदभिप्रायेण स्वरितानां मध्ये पाठः। उवट, वा० प्रा० भा० १.१२०।

३. माध्यन्दिनविरोधी स्यात् ताथाभाव्यस्तु यः स्वरः।
स्वरौ नैवात्र दृश्येते भिन्नोदात्तानुदात्तकौ॥ या० शि० १.८६।

वस्तुतः, माध्यन्दिन शाखा के किसी विशेष सम्प्रदाय में ताथाभाव्य स्वरित की सत्ता मानी जाती थी। संहिता में तो अवग्रह न होने के कारण दो उदात्तों के बीच आने वाला अनुदात्त ज्यों का त्यों रह जाता था, किन्तु पदपाठ में जब दोनों पद अलग-अलग होते थे तो एक का प्रभाव दूसरे पर से हट जाने के कारण उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता था। अनवग्रहे (वा० प्रा० ४.१३७) सूत्र में उन आचार्यों के मत की ही ओर संकेत है, जो पदपाठ में अवग्रह के बाद आने वाले उदात्त के कारण आद्युदात्त या मध्योदात्त पूर्वपद के अन्तिम वर्ण को अनुदात्त नहीं करते, बल्कि उसको उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः के अनुसार स्वरित ही करते हैं[1], जैसे—तनूनप्त्र इति तनू। नप्त्रे (शु० य० प० ५.५)। अनन्तभट्ट के अनुसार ताथाभाव्य स्वरित की सत्ता आपस्तम्बादि के मत में है। किन्तु यह मत ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आपस्तम्ब तैत्तिरीय-शाखा के अनुयायी हैं, जिनके अपने 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में ताथा-भाव्य स्वरित की सत्ता ही नहीं। तैत्तिरीयों की शाखा में प्रचलित स्वर का कथन 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रातिशाख्य अपनी शाखा तथा शाखागत अनेक सम्प्रदायों के मत का उल्लेख तो करते हैं, किन्तु अन्य शाखाओं के अन्तर्गत प्रचलित सिद्धान्तों का उल्लेख करना उनका विषय नहीं। जो दो शाखाओं में सामान्य विषय है, उसका तो उल्लेख सम्भव है, किन्तु जो अपनी शाखा में प्रचलित नहीं है, दूसरी शाखा में प्रचलित है, उसका उल्लेख करना स्वाभाविक नहीं है। किन्तु 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में इसका उल्लेख हुआ है, इसलिये हम यही मानेंगे कि वाजसनेयियों की शाखा में ही किसी सम्प्रदाय-विशेष में यह ताथाभाव्य स्वरित मान्य था।

पाणिनि ने भी एक सूत्र में गार्ग्य, काश्यप तथा गालव नामक आचार्यों का उल्लेख किया है, जिनके मत में उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त संहिता-पाठ में भी निश्चित रूप से स्वरित हो जाता है, भले उसके आगे उदात्त या स्वरित ही क्यों न हो।[2] डा० रघुवीर ने पञ्चवटी (नासिक) से 'यजुर्वृक्ष'

---

१. यदेतन्निहितमुदात्त स्वरितपरमित्यवस्तादुक्तम् एतदेके आचार्या अनवग्रहे मन्यन्ते। अवग्रहे तु स्वरित एव भवति……एतच्च परमतम्।

उवट, वा० प्रा० भा० ४. १३७।

२. नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यप गालवानाम्। पा० ८.४.६७।

नामक एक सूची का पता लगाया था, जिसमें यजुर्वेद की १०१ शाखाओं का, तथा वे शाखायें देश के किस भाग में प्रचलित थीं, इसका उल्लेख है। उस यजुर्वृक्ष के अनुसार 'वाजिमाध्यन्दिनी शुक्लयजुः' के अन्तर्गत कई उपशाखायें थीं, जिनमें 'गालव' नामकी शाखा सौराष्ट्र देश में प्रचलित थी। इसकी भी २४ अवान्तर शाखायें थीं, जो देश के अन्य भागों में फैली हुई थीं।[१] वाजसनेयि-शाखा के अन्तर्गत इस शाखा के होने से ऐसा प्रतीत होता है कि 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में जो ताथाभाव्य स्वरित का उल्लेख किया गया है, वह इसी गालव-शाखा के अन्दर प्रचलित होगा। गार्ग्य तथा काश्यप की कौन शाखा थी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि उनके यहां ताथाभाव्य स्वरित की सत्ता अवश्य होगी।

'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में भी इस बात का उल्लेख किया गया है कि द्व्युदात्त समस्तपद के उत्तरपदादि वर्ण को पदपाठ में अवग्रह से व्यवहित होने पर असंहितवत् समझना चाहिये।[२] समस्तपद में यदि एक ही उदात्त है, चाहे वह पूर्वपद में हो या उत्तरपद में हो, तो अवग्रह से व्यवहित होने पर भी उसको संहितवत् माना जाता है, किन्तु यदि दोनों पद उदात्त हैं और उत्तरपद अन्तोदात्त या मध्योदात्त है तो उत्तरपद के उदात्त से पूर्व के प्रारम्भिक वर्ण असंहितवत् होते हैं। अर्थात् उनका पूर्व के स्वर के साथ स्वर विधान में कोई सम्बन्ध नहीं होता। द्व्युदात्त समस्तपदों में देवताद्वन्द्व संज्ञक समास पद ऐसे हैं, जिनमें पदों के बीच अवग्रह होता ही नहीं, जैसे—मित्रावरुणा, इत्यादि। इस प्रकार कुछ और पद हैं जिनमें पदपाठ में अवग्रह नहीं लगता, जैसे—नराशंसम्, बृहस्पतिः, वनस्पतिः, शुनःशेपः, इत्यादि। इन द्व्युदात्त पदों में, जिनमें अवग्रह नहीं लगता, दो उदात्तों के बीच अनुदात्त अनुदात्त रूप में संहितापाठ तथा पदपाठ दोनों में ज्यों का त्यों बना रहता है। तनू तथा शची पद-पूर्व वाले ही ऐसे द्व्युदात्त समास मिलते हैं, जिनमें दोनों पदों के बीच अवग्रह का प्रयोग

१. द्र. भगवद्दत्त : 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास', प्रथम भाग, पृ० २५१–२५३।

२. पद्यादींस्तु द्व्युदात्तानामसंहितवदुत्तरान्। ऋ० प्रा० ३.२५।

मिलता है। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के अनुसार तनूनपा॑त् तथा शची॒पति॑म् के दोनों पदों को पदपाठ में संहितवत् तथा असंहिवत् दोनों मानने का विकल्प है।[1] यदि संहितवत् माना जाय तो इनका रूप तनूऽनपा॑त् तथा शची॒ऽपति॑म् होगा। असंहितवत् मानने पर इनका स्वर इस प्रकार होगा—तनू॑ऽनपा॑त्, शची॑ऽपति॑म्। ऋग्वेदप्रातिशाख्यकार शौनक, शाकल्य के पदपाठ का अनुसरण करते हुये, तनू तथा शची के पदान्तीय स्वरित को जात्यस्वरित मानते हैं और उत्तरपद के साथ स्वर-विधान में इसे संहितवत् मानते हैं। जिस प्रकार जात्यस्वरित के बाद उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित के आगमन से स्वरित का उत्तर अनुदात्तांश अनुदात्त ही रहता है, जिसे बह्वृच-शाखा वाले कम्प कहते हैं, उसी प्रकार तनू तथा शची के बाद क्रमशः आद्युदात्त पद नपा॑त् एवं पति॑म् आने से पदपाठ मे स्वरित का अनुदात्तांश कम्पित होता है, जैसे—तनू॑३॒नपा॑त् (ऋ० वे० प० ३.२९.११); शची॑३॒पतिम् (ऋ० वे० प० १.१०६.६)।

इन विरोधी मतों में से कौन ठीक है इसके ऊपर विचार करना है। वस्तुतः, ऋग्वेदप्रातिशाख्यकार से पूर्व ऋग्वेद के दो पदपाठ थे। आज केवल शाकल्य का ही पदपाठ मिलता है। ऋग्वेदप्रातिशाख्यकार के समय में भी यही शाकल्य का पदपाठ अधिक प्रचलित था, दूसरा लुप्त हो गया था, किन्तु कहीं-कहीं उसके अवशेष दिखाई पड़ते थे। उस पदपाठ में तनू॑ तथा शची॑ पदों को समास के पूर्वपद में स्थित होने पर असंहितवत् ही माना जाता था। चूंकि ऋग्वेदप्रातिशाख्यकार को शाकल्य का पदपाठ ही मान्य था, इसलिये उन्होंने तनू॑ तथा शची॑ के पदान्तीय स्वरित को जात्य स्वरित ही माना और उत्तरपद के साथ स्वर-विधान में संहितवत् माना। तनूनपा॑त् तथा शची॒पति॑म्, इन दोनों पदों में उदात्तों के बीच आने वाले अनुदात्त को ताथाभाव्य स्वरित मानने का आधार वही लुप्त पदपाठ है, जिसमें दोनों पदों को असंहितवत् मान कर पदपाठ में तनू॑ तथा शची॑ को अवग्रह से पूर्व स्वरितान्त दिखाया गया होगा। सम्भवतः उसमें बृह॒स्पति॑ः, वन॒स्पति॑ः, नरा॒शंस॑म् आदि पदों में भी अवग्रह का प्रयोग किया जाता होगा और अवग्रह से पूर्व अनुदात्त को उदातादनुदात्तस्य स्वरितः के अनुसार स्वरित ही माना जाता होगा।

---

१. जात्यवद्वा तथा वान्तौ तनूशचीति पूर्वयोः। ऋ० प्रा० ३.२६।

'तैत्तिरीय-संहिता' के पदपाठ में इस प्रकार का स्वरित मिलता है, किन्तु 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में ताथाभाव्य का उल्लेख नहीं हुआ है। 'तैत्तिरीय-संहिता' के पदपाठ में यह इसलिये दिखाई पड़ता है कि वहां अवग्रह के बाद उत्तरपद असंहितवत् समझा जाता है। वह स्वतन्त्र होने के कारण पद के स्वर-नियम का पालन करता है, संहिता के स्वर नियम का नहीं, जैसे—तनूनपादिति तनूं। नपात् (तै० सं० प० ४.१.८.१) यहां इतिं के बाद तनूं और नपात् पद असंहितवत् हैं। यदि संहितवत् होते तो नपात् पद के आद्युदात्त होने के कारण तनूं पद का अन्तिम अनुदात्त स्वरित न हो कर अनुदात्त ही रह जाता। किन्तु ऐसा नही है, इसलिये यहां वह स्वरित हो हो गया है। ऐसे स्वरित को यहां क्या कहा जायेगा, इसका उल्लेख 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में नहीं है। वस्तुतः 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' तथा 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में संहिता में होने वाले स्वरितों का नामकरण किया गया है, पदपाठ में होने वाले स्वरितों का इनमें उल्लेख नहीं।

५. प्रातिहत स्वरित—इस स्वरित-भेद का उल्लेख पीछे पादवृत्त स्वरित तथा तैरोव्यञ्जन स्वरित के प्रसंग में किया जा चुका है। इस स्वरित-भेद की सत्ता केवल 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में ही मानी गई है। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' तथा 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में इसका अलग से उल्लेख न कर इस प्रकार के स्वरित को तैरोव्यञ्जन स्वरित ही माना गया है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार दो पदों में से जब पूर्वपद अन्तोदात्त हो और उत्तरपदादि अनुदात्त हो और उसके ठीक बाद कोई उदात्त या स्वरित न हो तो वह पदादि अनुदात्त संहिता में स्वरित हो जाता है; इस प्रकार के स्वरित को प्रातिहत स्वरित कहते हैं,[1] जैसे—मा तें अस्याम् (तै० सं० १.६.१.२.५)। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार एक हो पद में उदात्त के बाद आने वाले स्वरित की प्रातिहत संज्ञा नहीं होती। 'कौहलि शिक्षा' में भी प्रातिहत स्वरित को एक स्वरित-भेद माना गया है। जब स्वरित पूर्ववर्ती उदात्त के साथ एकादिष्ट होने के कारण होता है तब उसे प्रातिहत स्वरित कहते हैं।[2] पूर्वपदस्थ अन्तोदात्त

---

१. अपि चेन्नानापदस्थमुदात्तमथ चेत्सांहितेन स्वयंते स प्रातिहतः।
तै० प्रा० २०.३।

२. एकादिष्ट उदात्तेन नित्यः प्रातिहतामिधः॥ कौ० शि० १५।

के प्रभाव से उत्तरपदस्थ आदि अनुदात्त का जो स्वरित होता है, वह दो पदों में होने के कारण प्रातिहत कहलाता है।

ऊपर स्वरित के जिन रूपों की मीमांसा की गई है उनकी संख्या प्रातिहत को लेकर ९ है। इनमें से चार स्वतन्त्र स्वरित हैं और पांच आश्रित स्वरित हैं। इनमें मुख्य स्वरितत्व स्वतन्त्र स्वरित का है, आश्रित स्वरित का स्वरितत्व गौण है। इसी मुख्य और गौण स्वरितत्व के आधार पर इनके स्वतन्त्र स्वरित और सामान्य स्वरित दो विभाग किये गये हैं। क्षैप्र, अभिनिहित तथा जात्य स्वरितों को स्वतन्त्र स्वरित यह समान अभिधान इसलिये भी दिया गया है कि कम्प के प्रसंग में केवल इस नाम के उल्लेख से सबका समान रूप से बोध हो जाता है, क्योंकि उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर इन सबका परिणाम एक होता है। सामान्य स्वरित के जो पांच भेद बताये गये हैं वे सन्निधिज स्वरित हैं, क्योंकि ये पूर्ववर्ती उदात्त की सन्निधि के कारण होते हैं। यदि इनके पूर्व उदात्त न हो तो इनकी सत्ता नहीं। 'पादवृत्त', 'तैरोव्यञ्जन' तथा 'प्रातिहत' संहिता में ही होते हैं किन्तु, 'तैरोविराम' एवं 'ताथाभाव्य स्वरित' पदपाठ में होते हैं।

अध्याय ३

स्वरित का उच्चारण

स्वर का सम्बन्ध उच्चारण के साथ है। स्वर अर्थबोध में जो सहायक होते हैं, वे उच्चारण के द्वारा हो, क्योंकि उच्चारण-भेद से ही शब्द-भेद होता है और शब्दभेद होने से अर्थभेद हो जाता है। वैदिक काल में उदात्तादि स्वरों का किस प्रकार उच्चारण किया जाता था, यह ठीक रूप से बताना कठिन है, क्योंकि तब से लेकर आज तक वर्णों के उच्चारण में काफी अन्तर आ गया है। एक ही वर्ण उदात्त भी हो सकता है, अनुदात्त भी तथा स्वरित भी। किन्तु एक ही वर्ण का स्वर के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से कैसे उच्चारण किया जायेगा, साक्षात् परम्परा के अभाव में इसे बताना कठिन है। प्रातिशाख्य, शिक्षा एवं व्याकरण-ग्रन्थों में इनके उच्चारण का अन्तर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु उनसे हमें उतनी सहायता नहीं मिल पाती जितनी साक्षात् परम्परा से मिल सकती थी। सिद्धान्त अभ्यास के अभाव में सिद्धान्त ही रह जाता है, व्यवहार में नहीं आता। आज के वेदपाठी मन्त्रों का जब उच्चारण करते हैं, तो उनके उच्चारण में उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित का अन्तर स्पष्ट नहीं ेता। उनके हस्तचालन से ही हम समझते हैं कि अमुक वर्ण उदात्त है, अमुक अनुदात्त एवं अमुक स्वरित।

स्वरित का उच्चारण किस प्रकार करना चाहिये, इसके विषय में आधुनिक एवं प्राचीन विद्वानों में काफी मतान्तर है। चूंकि स्वरित उदात्त एवं अनुदात्त का समाहार है, इसलिये अधिकांश विद्वान् यही मानते हैं कि इसमें उदात्त और अनुदात्त दोनों का उच्चारण होता है। सभी इस मत से सहमत हैं कि स्वरित के उच्चारण में प्रारम्भिक अंश उदात्त होता है और अवसान वाला अंश अनुदात्त। कितना अंश उदात्त होता है कितना अनुदात्त इसके ऊपर मतभेद है। इसके ऊपर प्रथम अध्याय में विवेचन किया जा चुका है। यहां हमें यह विचार करना है कि स्वरित

उदात्त और अनुदात्त का एक समाहार ही है, या दोनों से भिन्न एक स्वतन्त्र स्वर है। प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाओं के अध्ययन से यह मालूम पड़ता है कि स्वरित एक स्वतन्त्र स्वर है। 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' के भाष्य में उवट ने उदात्त और अनुदात्त के संयोग से स्वरित के उत्पन्न होने के दो दृष्टान्त दिये हैं।[1] पहला दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार त्रपु और ताम्र के संयोग से कांस्य नामक धातु की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार उदात्त और अनुदात्त के समाहार से स्वरित नामक स्वर की उत्पत्ति होती है। दूसरा दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार गुड़ और दही के संयोग से रसाला उत्पन्न होती है, उसी प्रकार उदात्त और अनुदात्त के संयोग से स्वरित स्वर उत्पन्न होता है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने इन दोनों दृष्टान्तों को गलत माना है। उनका कहना है कि स्वरित में तो उदात्त पूर्व होता है अनुदात्त बाद में, किन्तु त्रपु और ताम्र कांस्य में तथा गुड़ और दही रसाला में सर्वत्र होते हैं, इसलिये ये दृष्टान्त ठीक नहीं।[2] किन्तु बात ऐसी नहीं। मीमांसक जी द्वारा इस दृष्टान्त को सदोष मानने के मूल में यह भ्रम छिपा हुआ है कि स्वरित के उच्चारण में उदात्त और अनुदात्त स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। यदि स्वरित के उच्चारण में उदात्त और अनुदात्त ही सुनाई पड़ते तो उसे स्वरित कहने की क्या आवश्यकता थी? उसे उदात्त और अनुदात्त के ही नाम से पुकारा जाना चाहिये था। किन्तु उसे उदात्त और अनुदात्त न कह कर स्वरित ही कहते हैं। इससे यह बात सिद्ध होती है कि उदात्त और अनुदात्त से भिन्न स्वरित नामक स्वर है, जो उन्हीं के संयोग से उत्पन्न होता है। उदात्त और अनुदात्त के संयोग से उत्पन्न होने पर भी वह उदात्त और अनुदात्त से भिन्न होता है। इसी बात का उवट ने स्पष्ट रूपसे दृष्टान्त द्वारा यह उल्लेख किया कि स्वरित शब्द से उदात्त और अनुदात्त से भिन्न एक अन्य स्वर का बोध होता है।[3] जिस प्रकार त्रपु और ताम्र

---

१. यथा त्रपुताम्रयोः संयोगे धात्वन्तरस्य कांसस्योत्पत्तिः यथा च गुडदध्नोरेकीभावे मार्जिकोत्पत्ति एवमुदात्तानुदात्तसंयोगे स्वरितोत्पत्तिः।

उवट, वा० प्रा० भा० १.१२६।

२. वैदिक-स्वर-मीमांसा, पृ० २४।

३. स्वरितशब्देनोदात्तं निर्वर्त्य पृथक् श्रुतिस्वरान्तरमभिधीयते।

उवट, वा० प्रा० भा० १.१२६।

के संयोग से कांस्य की उत्पत्ति होती है तथा गुड और दधि के संयोग से रसाला की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार उदात्त और अनुदात्त के संयोग से स्वरित की उत्पत्ति होती है। कांस्य में त्रपु और ताम्र नामक दो धातुओं का योग होता है, रसाला में गुड़ और दधि का संयोग होता है, किन्तु कांस्य और रसाला क्रमशः त्रपु और ताम्र से तथा गुड़ और दधि से भिन्न होते हैं। मीमांसक जी ने महाभाष्यकार द्वारा दिये गये दृष्टान्त[1] को सही माना है। अगर विचार किया जाय तो वस्तुतः, महाभाष्य के दृष्टान्त से उवट का दृष्टान्त भिन्न नहीं। यदि मीमांसक जी का यह मत मानें कि स्वरित के उच्चारण में उदात्त और अनुदात्त धर्मों का सर्वावयवों में संयोग नहीं होता, अपितु उसके आदिभाग में उदात्त रहता है और उत्तर में अनुदात्त धर्म, तो कल्माष या सारंग उदाहरण में यह मानना पड़ेगा कि उनका पूर्व का भाग शुक्ल हो और उत्तरभाग कृष्ण हो; किन्तु ऐसा होता नहीं। कल्माष में तथा सारंग में कृष्ण और शुक्ल गुण का मिश्रण होता है, किन्तु वह उसके प्रत्येक अवयव में होता है। जिस प्रकार सर्वावयव में होने वाले त्रपु-ताम्र-संयोग तथा गुड़-दधि-संयोग वाले दृष्टान्त का मीमांसक जी निषेध करते हैं, उसी प्रकार कहीं कृष्ण कहीं श्वेत होने के कारण कल्माष तथा सारंग वाला दृष्टान्त भी कृष्ण तथा शुक्ल गुण का सर्वावयवों में संयोग होने के कारण त्याज्य हो जायेगा। महाभाष्यकार ने तस्यादित उदात्तमर्धं ह्रस्वम् (१.२.३२), इस सूत्र के भाष्य में स्पष्ट रूप से उदात्त-अनुदात्त के संयोग को स्वरित में जल और दूध का संयोग माना है।[2] जल और दूध के संयोग से जो पदार्थ बनता है, उसके सर्वावयव में ही दूध और जल रहता है। महाभाष्यकार के इस दृष्टान्त से उवट का दृष्टान्त पुष्ट होता है तथा मीमांसक जी का मत निराधार हो जाता है। महाभाष्यकार तो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि

---

१. तद्यथा—शुक्लगुणः शुक्लः कृष्णगुणः कृष्णः। य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते कल्माष इति वा सारङ्ग इति वा। एवमिहापि······य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति। पा० म० १.२.३१।

२. आमिश्रीभूतमिवेदं भवति। तद्यथा—क्षीरोदके सम्पृक्ते आमिश्रीभूतत्वान्न ज्ञायते कियत् क्षीरम् कियदुदकम्, कस्मिन्नवकाशे क्षीरम्, कस्मिन्वोदकमिति। एवमिहाप्यामिश्रीभूतत्वान्न ज्ञायते कियदुदात्तं, कियदनुदात्तं कस्मिन्नवकाशे उदात्तं, कस्मिन्ननुदात्तमिति। पा० म० १.२.३२।

दोनों गुणों के संयोग से स्वरित नामक स्वतन्त्र तृतीय स्वर उत्पन्न होता है। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उदात्त और अनुदात्त के संयोग से उत्पन्न स्वरित स्वर दोनों से भिन्न होता है।

जब स्वरित का उच्चारण उदात्त और अनुदात्त से भिन्न प्रकार का होता है, तब प्रातिशाख्यों ने स्वरित के अन्दर उदात्त-अनुदात्त विभाग की व्यवस्था क्यों की ?

वस्तुतः, स्वरित के उच्चारण में उदात्त-अनुदात्त की जो व्यवस्था बताई गई है, वह उदात्त तथा अनुदात्त से एक प्रकार की भिन्नता दिखाने के लिये है। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के मत में जो स्वरित होता है, उसके प्रारम्भिक अंश का उच्चारण उदात्ततर अर्थात् उदात्त से भी उच्च स्वर में होता है।[१] वह उदात्त के समान नहीं होता, क्योंकि वह उदात्त नहीं। उसके उत्तर-भाग का उच्चारण उदात्तवत् होता है इसीलिये उसको उदात्तश्रुति[२] भी कहते हैं। वह अनुदात्त नहीं। यदि स्वरित के उच्चारण में उदात्त और अनुदात्त ही होते तो यहां प्रारम्भिक अंश का उच्चारण उदात्ततर तथा अन्तिम अंश का उच्चारण उदात्तवत् करने का विधान प्रातिशाख्य में नहीं होता। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में स्वरित में जो उदात्त-अनुदात्त की व्यवस्था बताई गई है, वह भी 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के ही मत का समर्थन करती है। सूत्र में स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख है कि उस स्वरित का प्रारम्भिक अंश उच्च स्वर में उच्चरित होगा।[३] उसी सूत्र के भाष्य में 'त्रिभाष्यरत्न'[४] तथा 'वैदिकाभरण'[५] उस स्वरित के प्रारम्भिक अंश को उदात्ततर अर्थात् उदात्त से भी उच्चतर मानते हैं। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' तथा 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' स्वरित के उच्चारण में उसके प्रारम्भिक अंश को उदात्ततर मानने में जहां एकमत हैं, वहां दोनों में

---

१. तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा। ऋ० प्रा० ३.४।

२. अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः। ऋ० प्रा० ३.५।

३. तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य। तै० प्रा० १.४१।

४. उदात्तादनन्तरे यः स्वरः स्वर्यते तस्यादिस्तावदुच्चैस्तरामुदात्ततरो भवति, यावद्ह्रस्वस्यार्धम्। तै० प्रा० त्रि० र० १.४१।

५. उदात्तगुणात्स्वरादनन्तरे अव्यवहितपरे स्वरिते तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्ततरमुच्चार्यते। तै० प्रा० वै० १.४१।

एक मौलिक मतभेद भी दिखाई पड़ता है। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में उदात्त और अनुदात्त को एक अक्षर में समावेशजन्य स्वतन्त्र स्वरित में उदात्त और अनुदात्त की व्यवस्था की गई है। किन्तु 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के भाष्यकारों के अनुसार स्वरित में जो उदात्ततर और अनुदात्तसम उच्चारण की व्यवस्था बताई गई है, वह केवल सामान्य स्वरित के लिये ही है, जात्य, क्षैप्रादि अन्य स्वतन्त्र स्वरितों के लिये नहीं।[१]

इस प्रकार जहां 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' उदात्त और अनुदात्त के समावेश से उत्पन्न होने वाले स्वरित के उच्चारण में विभाग-कल्पना करता है तथा 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के भाष्यकार उदात्त के बाद आने वाले स्वरित के उच्चारण में विभाग-कल्पना करते हैं, वहां यह जानना कठिन हो जाता है कि वास्तव में उदात्त और अनुदात्त के समावेश या समाहार का अर्थ क्या है? जो स्वतन्त्र स्वरित हैं, उनमें तो उदात्त-अनुदात्त का समावेश स्पष्ट दिखाई पड़ता है, किन्तु सामान्य स्वरित में उदात्त-अनुदात्त का समावेश दिखाई नहीं पड़ता। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' का संधिज स्वरितों में उदात्त-अनुदात्त का समाहार मानना तो कुछ संगत प्रतीत होता है, किन्तु 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के भाष्यकारों का उदात्त के बाद आने वाले सामान्य स्वरित में उदात्तांश और अनुदात्तांश की कल्पना विचारणीय है। यदि 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के **तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्ताद्** (१.४१) का अर्थ 'उस स्वरित के आदिम उदात्तांश का उच्चारण सामान्य उदात्त से उच्चतर होता है', ऐसा किया जाय तो यह 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' तथा अपने प्रसंग के भी अनुकूल होगा। वस्तुतः, स्वरित एक स्वतन्त्र स्वर है, इसीलिये कुछ आचार्य उसमें उदात्तांश-अनुदात्तांश की कल्पना ही नहीं करते। स्वरित का उच्चारण स्वतन्त्र रूप से होता है। इसका सभी अंश स्वरित होता है।[२] ऐसी बात नहीं कि प्रारम्भ का अंश

---

१. द्र० पीछे पृ० १३

२. सर्वः प्रवण इत्येके। तै० प्रा० १.४७।

प्रवणशब्दः स्वरितपर्यायः। सव्यञ्जन एव स्वरित आदित आरभ्य सर्वः प्रवणो भवतीति एके आचार्या ऊचिरे। तै० प्रा० त्रि० र० १.४७।

प्रकर्षेण वन्यते व्युत्क्षिप्यत इति प्रवणः। स्वरितस्वरोऽयं सर्वः कृत्स्न एव स्वरितो भवति। न त्वस्य आदितः कश्चिदंश उदात्तसमोऽस्तीत्येके आचार्या उपदिशन्ति। तै० प्रा० वै० १.४७।

उदातसम हो और शेष अनुदात्तसम। प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाओं में स्वरित के उच्चारण का जो कथन किया गया है, वह स्वतन्त्र मान कर ही किया गया है।

'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के अनुसार स्वरित का उच्चारण 'आक्षेप' से किया जाता है।[1] 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के भाष्य में उवट ने 'आक्षेप' पद का अर्थ वायुनिमित्त गात्रों का 'तिर्यग्गमन' किया है।[2] पाणिनि ने उच्चैरुदात्तः (पा० १.२.२९), नीचैरनुदात्तः (पा० १.२.३०) तथा समाहारः स्वरितः (पा० १.२.३१) के द्वारा क्रमशः उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के उच्चारण का ढंग बताया है। पाणिनि-सूत्रों के आधार पर कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि उदात्त उच्च स्वर है, क्योंकि उसका उच्चारण उच्च स्वर में किया जाता है; अनुदात्त नीच स्वर है, क्योंकि उसका उच्चारण निम्न स्वर में किया जाता है तथा स्वरित मध्य स्वर है, क्योंकि इसका उच्चारण उदात्त-अनुदात्त की मध्य ध्वनि से किया जाता है। कात्यायन तथा पतञ्जलि ने पाणिनि-सूत्रों (१.२.२९-१०) पर क्रमशः अपने वार्तिक तथा भाष्य में इस मत का खण्डन किया है कि वर्णों को ऊंच नीच तथा मध्य उच्चारण से उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित की व्यवस्था है। वर्णों का उच्च, नीच तथा मध्य स्वर में उच्चारण तो अनवस्थित है।[3] एक ही वर्ण का उच्चारण किसी के लिये उच्च होता है, किसी के लिये नीच तथा किसी के लिये मध्यम। किसी अध्ययन करने वाले विद्यार्थी से कोई आता है तो यह कहता है कि क्यों उच्च स्वर में पढ़ते हो, धीरे-धीरे पढ़ो। दूसरा आता है वैसा ही पढ़ने पर कहता है, क्यों धीरे-धीरे पढ़ रहे हो, जोर से पढ़ो। इस दृष्टान्त से महाभाष्यकार यह

---

१. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः।
आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते ॥ ऋ० प्रा० ३.१।

२. आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्।
उवट, ऋ० प्रा० भा० ३.१।

३. इदमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्, तदेव हि कञ्चित् प्रत्युच्चैर्भवति, कञ्चित् प्रति नीचैः। एवं हि कश्चित्कंचिदधीयानमाह—किमुच्चै रोरूयसे शनैर्वर्त-तामिति। तमेव तथाधीयानमपर आह—किमन्तर्दन्तकेनाधीषे उच्चैर्वर्ततामिति। एवमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्, तस्यानवस्थितत्वात्संज्ञाया अप्रसिद्धिः।
पा० म० १.२.२९-३०।

बताना चाहते हैं कि उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित का उच्चारण जोर से धीरे-धीरे तथा मध्यम रूप से करने से उसका निश्चित लक्षण नहीं बताया जा सकता। वे उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के उच्चारण में 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के मत का भी खण्डन करते हैं। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार गात्रों की दीर्घता, स्वर की कठिनता तथा कण्ठ-विवर की संवृतता ही शब्द या वर्ण के उच्च उच्चारण का कारण या सहायक होती है।[1] इसी प्रकार गात्रों की शिथिलता, स्वर की स्निग्धता तथा कण्ठ-विवर की स्थूलता वर्ण के नीच उच्चारण का कारण होती है।[2] इस प्रकार 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार उदात्त स्वर में गात्रों को ऊपर खींचा जाता है, ध्वनि को कठोर बनाया जाता है तथा कण्ठ को दबा कर वर्ण का उच्चारण किया जाता है। गात्रों को आरामदेह अवस्था में रखकर स्निग्ध स्वर से कण्ठ को आराम से विस्तारित कर अनुदात्त का उच्चारण किया जाता है। पतञ्जलि के अनुसार उदात्त और अनुदात्त का यह लक्षण भी ठीक नहीं, क्योंकि यह अनैकान्तिक है। अनैकान्तिक का अर्थ है जो सबके लिये समान रूप से लागू न हो। धीरे बोलने वाले व्यक्ति के लिये जो सर्वोच्च ध्वनि है वही जोर से बोलने वाले के लिये सबसे नीच हो सकती है। एक कमजोर व्यक्ति बहुत परिश्रम-

---

१. आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य। तै० प्रा० २२.९।

आयामः गात्राणां दैर्घ्यम्। दारुण्यं स्वरस्य कठिनता, अणुता खस्य गलविवरस्य संवृतता। एतानि साधनानि शब्दस्य उच्चैःकराणि शब्दमुच्चैः उदात्तं कुर्वन्तीत्यर्थः। उच्चशब्दमुच्चारयता एतत् कर्तव्यमिति विधिः।

तै० प्रा० त्रि० र० २२.९।

आयामो गात्राणामाकर्षणम्। दारुण्यं परुषता ध्वनेः। अणुता संवृतता कण्ठाकाशस्य। एतानि कारणानि शब्दमुच्चैःकुर्वन्ति उत्क्षेपणं कुर्वन्ति।

तै० प्रा० वै० २२.९।

२. अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि। तै० प्रा० २२.१०।

अन्ववसर्गो गात्राणां विस्तृतता। मार्दवं स्वरस्य स्निग्धता। खस्य उरुता, कण्ठस्य स्थूलता, इत्येतानि साधनानि शब्दस्य नीचैःकराणि, शब्दं नीचैरनुदात्तं कुर्वन्तीत्यर्थः। तै० प्रा० त्रि० र० २२.१०।

अन्ववसर्गो गात्राणां स्रंसनम्, मार्दवं ध्वनेः, उरुता विस्तीर्णता कण्ठविवरस्येति, एतानि करणानि शब्दं नीचैःकुर्वन्ति अवक्षिप्तं कुर्वन्ति।

तै० प्रा० वै० २२.१०।

पूर्वक जिस ध्वनि का उच्चारण करता है और जिसको वह सर्वोच्च ध्वनि समझता है, वही एक बलवान् के लिये सबसे नीच ध्वनि होगी।[1] इस प्रकार महाभाष्यकार के मत में उदात्त-अनुदात्त के उच्चारण की यह व्यवस्था भी अनैकान्तिक है। महाभाष्यकार का अपना मत है कि पाणिनि ने उच्चैरुदात्तः तथा नीचैरनुदात्तः के द्वारा उदात्त-अनुदात्त के उच्चारण की जो व्यवस्था दी है, उसका अभिप्राय यह है कि वर्णों के उच्चारण-स्थान के उच्च-भाग से जब उच्चारण होता है तो वह उदात्त-होता है; तथा वर्णों के उच्चारण-स्थान के निम्न-भाग से जब उच्चारण होता है तो वह अनुदात्त होता है।[2] महाभाष्यकार द्वारा दी गई उदात्त अनुदात्त के उच्चारण की यह व्यवस्था प्रायः सभी परवर्ती वैयाकरणों को मान्य है।[3] महाभाष्यकार द्वारा दी गई व्यवस्था को यद्यपि परवर्ती वैयाकरणों ने स्वीकार किया है, किन्तु इसकी स्पष्टता में सबको सन्देह है। वर्णों के उच्चारण-स्थान के ऊर्ध्व भाग से कैसे उच्चारण होता है तथा उसके अधर भाग से किस प्रकार उच्चारण होता है, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। व्यवहार में इस ऊंच नीच का भेद तो प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। इसीलिये तो कैय्यट ने लिखा है कि बहुत अभ्यास के पश्चात् ही यह अन्तर जाना जा सकता है।[4]

'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' तथा महाभाष्यकार ने उदात्त तथा अनुदात्त के उच्चारण की बात तो कही है, किन्तु स्वरित के उच्चारण में दोनों

---

१. आयामो गात्राणां निग्रहः। दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता। अणुता खस्य कण्ठस्य संवृतता उच्चैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता। मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता। उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। एतदप्यनैकान्तिकम्। यद्धचल्पप्राणस्य सर्वोच्चैस्तद्धि महाप्राणस्य सर्वनीचैः।
पा० म० १.२.२९-३०।

२. सिद्धं तु समानप्रक्रमवचनात्। सिद्धमेतत्। कथम्? समानप्रक्रमवचनात् समाने प्रक्रम इति वक्तव्यम्। कः पुनः प्रक्रमः? उरः कण्ठः शिर इति। वही।

३. प्रक्रम्यन्तेऽस्मिन्वर्णा इति प्रक्रमः स्थानमुच्यते। तेनायमर्थः एकस्मिंस्ताल्वादिके स्थाने ऊर्ध्वाधरभागयुक्ते ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाण उदात्तः, ऊधरभागनिष्पन्नोऽनुदात्तः। एवं चोच्चैरित्यनेनोर्ध्वभागो गृह्यते नीचैरित्यधरभागः।
कैय्यट, प्रदीप, १.२.२९-३०।

४. अभ्याससमधिगम्यश्चायं स्वरविशेषः षड्जादिवद्विज्ञेयः॥ वही।

मौन हैं। किसी ने स्पष्ट रूप से नहीं कहा कि स्वरित का उच्चारण किस प्रकार करना चाहिये। अनुमान यही लगाया जा सकता है कि 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार आयाम, दारुण्य, और अणुता तथा अन्वसर्ग, मार्दव और उरुता के मध्य से स्वरित का उच्चारण करना चाहिये। किन्तु यह मध्य स्वर कैसा होगा, इसके विषय में 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' तथा उसके भाष्यकार कुछ भी नहीं बताते। इसी प्रकार महाभाष्यकार द्वारा दी गई उदात्त और अनुदात्त के उच्चारण की व्यवस्था से यह अनुमान किया जा सकता है, कि वर्णों के उच्चारण-स्थान के मध्य भाग से जब वर्ण का उच्चारण किया जाता है तब स्वरित होता है, किन्तु इस बात का महाभाष्यकार ने स्पष्ट रूप से कथन नहीं किया है। **समाहारः स्वरितः,** इस स्वरित-लक्षण के आधार पर 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' एवं महाभाष्यकार द्वारा स्वरित को मध्यम स्वर माने जाने का अनुमान कर मैकडानल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने स्वरित को मध्य स्वर (Middle tone) स्वीकार किया है।[१] उनकी दृष्टि में उदात्त उच्च स्वर है, अनुदात्त नीच स्वर है तथा स्वरित मध्यम स्वर है। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों का यह मत प्रातिशाख्यों के मत से मेल नहीं खाता। प्रातिशाख्यों में स्वरित को उदात्त से भी उच्च स्वर माना गया है। प्रातिशाख्यों के अनुसार अनुदात्त नीच स्वर है, उदात्त मध्यम स्वर है तथा स्वरित उच्च स्वर है।

'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में विभिन्न स्वरितों के उच्चारण का प्रकार बताया गया है। क्षैप्र, जात्य तथा अभिनिहित इन स्वरितों के उच्चारण में दृढ़तर[२] प्रयत्न होता है; प्रश्लिष्ट तथा प्रातिहत स्वरितों में मृदुतर[३] प्रयत्न होता है तथा तैरोव्यञ्जन एवं पादवृत्त स्वरितों में अल्पतर[४] प्रयत्न होता है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में **क्षैप्रनित्ययोर्दृढ़तरः** (२०.९) के द्वारा क्षैप्र और जात्य स्वरित को दृढ़तर प्रयत्न से उच्चरित होने वाला बताकर फिर से **अभिनिहिते च** (तै० प्रा० २०.१०) के द्वारा अभिनिहित

१. मैकडानल : 'वैदिक ग्रामर' पृ० ७७।

२. क्षैप्रनित्ययोर्दृढ़तरः। तै० प्रा० २०.९; अभिनिहिते च। तै० प्रा० २०.१०।

३. प्रश्लिष्टप्रातिहतयोर्मृदुतरः। तै० प्रा० २०.११।

४. तैरोव्यञ्जनपादवृत्तयोरल्पतरोऽल्पतरः॥ तै० प्रा० २०.१२।

को भी दृढ़तर प्रयत्न से उच्चरित होने वाला बताया गया है। प्रश्न यह उठता है कि यदि क्षैप्र, जात्य तथा अभिनिहित तीनों स्वरितों में दृढ़तर प्रयत्न होता है तो फिर एक ही सूत्र द्वारा इन तीनों के दृढ़तर प्रयत्न से उच्चरित होने का विधान क्यों नहीं किया गया ? इस विषय में सोमयार्य का कथन है कि दूसरे सूत्र के द्वारा अभिनिहित स्वरित के उच्चारण के विषय में जो बताया गया है, वह उसके केवल दृढ़ प्रयत्न मात्र उच्चारण को बताता है। इस प्रकार सोमयार्य के अनुसार अभिनिहित के उच्चारण में दृढ़ प्रयत्न होना चाहिये, दृढतर नहीं।[१] दूसरी तरफ उसी सूत्र के भाष्य में गार्ग्यगोपाल यज्वा ने यह मत व्यक्त किया है[२] कि दूसरे सूत्र में जो 'च' शब्द है वह अभिनिहित के भी दृढ़तर प्रयत्न से उच्चारण किये जाने का विधान करता है। पृथक् सूत्र द्वारा विधान इस नियम के अनित्यत्व को बताता है। अर्थात् अभिनिहित का उच्चारण दृढ़ प्रयत्न से करना चाहिये; किन्तु हमेशा नहीं। अनुदात्तपूर्व अभिनिहित स्वरित का उच्चारण दृढ़तर प्रयत्न से होता है, जैसे—आदि-त्यों॑ऽस्मिन् (तै० सं० २.५.८), किन्तु उदात्तपूर्व या अपूर्व अभिनिहित का उच्चारण दृढ़ प्रयत्न से किया जाता है, जैसे—तया वै सोऽग्नेः (तै० सं० ५. २.१), तेऽब्रुवन् (तै०सं०२.५.१), जबकि क्षैप्र और जात्य स्वरित का उच्चारण हमेशा दृढ़तर प्रयत्न से ही किया जाता है, चाहे वह अनुदात्तपूर्व हो चाहे अपूर्व हो, जैसे—व्यृद्धम् (तै० सं० ५.१.२); उक्थ्यम् (तै० सं० ३. १.७)। सोमयार्य ने इस बात का स्पष्ट रूप से कथन किया है कि यद्यपि अल्पतर, मृदुतर, दृढ़ एवं दृढ़तर रूप से विभिन्न स्वरितों के उच्चारण का उल्लेख किया गया है, फिर भी दीपवद्वेणुपत्रवत्, इस शिक्षावचन के अनुसार कोमलत्व सर्वत्र बना रहना चाहिये।[३] तैत्तिरीयप्रातिशाख्यकार

---

१. अन्वाचये वर्तमानः चकारो दृढमात्रं बोधयति। अभिनिहते प्रयत्नो दृढः स्यात्। न तु दृढतर इति पृथक् सूत्रारम्भात् प्रतीयते। तै० प्रा० त्रि० र० २०.१०।

२. चशब्दो दृढतर इत्यन्वादिशति। पृथक्सूत्रकरणं अनित्यत्वज्ञापनार्थम्। यथा व्याकरणे 'चुटू' (पा० १.३.७) इति। तेनानुदात्तपूर्वक एवाभिनिहते दृढतरः प्रयत्नः कार्यः। उदात्तपूर्वेऽपूर्वे च दृढ एव। तै० प्रा० वै० २०.१०।

३. यद्यप्यल्पतरमृदुतरदृढभावास्तत्रोक्ताः तथापि 'दीपवद्वेणुपत्रवत्' इति शिक्षाऽनुरोधात् कोमलशिरस्कत्वं सर्वत्र विज्ञेयम्। तै० प्रा० त्रि० र० २०.१२

ने पौष्करसादि नामक आचार्य का मत उद्धृत किया है, जिसके अनुसार स्वरित का दृढ़ प्रयत्नतर उच्चारण होता है।[1]

विभिन्न स्वरितो के उच्चारण में कैसा प्रयत्न होना चाहिये, इस बात का उल्लेख 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में भी किया गया है। वहां अभिनिहित स्वरित का तीक्ष्ण प्रयत्न से तथा शेष का क्रमशः मृदुतर प्रयत्न से उच्चारण करने का विधान किया गया है।[2] 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में स्वरितों को अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, पादवृत्त तथा ताथाभाव्य इस क्रम से रखा गया है।[3] इस प्रकार 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' के अनुसार अभिनिहित स्वरित का तीक्ष्ण प्रयत्न से उच्चारण करना चाहिये; क्षैप्र का अभिनिहित की अपेक्षा कुछ मृदु प्रयत्न से उच्चारण करना चाहिये। उच्चारण में क्षैप्र और जात्य दोनों समान प्रयत्न वाले होते हैं। प्रश्लिष्ट का उच्चारण क्षैप्र स्वरित की अपेक्षा मृदु प्रयत्न से करना चाहिये; तैरोव्यञ्जन को प्रश्लिष्ट की अपेक्षा मृदुतर प्रयत्न से, तैरौविराम का तैरोव्यञ्जन की अपेक्षा मृदुतर प्रयत्न से, तथा पादवृत्त का तैरोविराम की अपेक्षा मृदुतर प्रयत्न से उच्चारण करना

---

१. स्वारविक्रमयोर्दृढप्रयत्नतरः पौष्करसादेः। तै० प्रा० १७.६।

स्वारे विक्रमे च प्रयोगः पौष्करसादेः मते दृढप्रयत्नतरः भवति। स्वारः स्वरित इत्यर्थः। ···दृढप्रयत्नो यस्यासौ दृढप्रयत्नः। अतिशयेन दृढप्रयत्नतरः।

तै० प्रा० त्रि० र० १७.६।

२. तीक्ष्णोऽभिनिहितः परम्परम्मृदुस्त्वन्यः। वा० प्रा० १.१२५।

तीक्ष्ण उच्चारणतो हस्तेन चाभिनिहितः स्वरो भवति ततोऽन्यो मृदुप्रयत्नो भवति। किमविशेषेणेत्याह। परम्परं शब्दोऽव्ययम्। पूर्वमपेक्ष्य परः परमपेक्ष्य पर इत्येवम्। यथा अभिनिहितमपेक्ष्य क्षप्रः क्षैप्रमपेक्ष्य प्रश्लिष्टः। क्षैप्रे जात्यस्यान्तर्भावो द्रष्टव्यः। तथा चोक्तम्—

सर्वतीक्ष्णोऽभिनिहितः प्रश्लिष्टस्तदनन्तरम्।
ततोमृदुतरौ स्वारौ जात्यक्षैप्रावुभौ स्मृतौ॥
ततो मृदुतरः स्वारस्तैरोव्यञ्जन उच्यते।
पादवृत्तो मृदुतमस्त्वेतत् स्वार बलाबलम्॥

उवट, वा० प्रा० भा० १.१२५।

३. वा० प्रा० १.११४—१२०।

चाहिये। चूँकि ताथाभाव्य स्वरित वाजसनेयियों में कम्प माना जाता है, इसीलिये स्वरित की सूची में पादवृत्त स्वरित को अन्तिम मानकर इसका उच्चारण मृदुतम प्रयत्न से करने को कहा है।

'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' तथा 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में विभिन्न स्वरितों के उच्चारण के विविध प्रयत्नों का जो उल्लेख किया गया है, उनमें आपस में थोड़ा अन्तर है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार क्षैप्र, जात्य तथा अभिनिहित के उच्चारण में दृढ़तर प्रयत्न होता है, जबकि 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' के अनुसार केवल अभिनिहित स्वरित के उच्चारण में तीक्ष्ण प्रयत्न होता है; क्षैप्र या जात्य में उससे मृदु प्रयत्न होता है। इस प्रकार 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' के अनुसार अभिनिहित स्वरित सबसे तीक्ष्ण प्रयत्न से उच्चरित होना चाहिये, जबकि 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार क्षैप्र तथा जात्य स्वरित सबसे दृढ़तर प्रयत्न से उच्चरित होने चाहिये। दृढ़ और तीक्ष्ण प्रयत्न दोनों का एक ही अर्थ समझना चाहिये। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार प्रश्लिष्ट और प्रातिहत स्वरितों में मृदुतर प्रयत्न तथा तैरोव्यञ्जन एवं पादवृत स्वरितों में अल्पतर प्रयत्न होता है, जबकि 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' के अनुसार इनमें क्रमशः मृदुतर प्रयत्न होता जाता है। पादवृत्त में मृदुतम प्रयत्न होता है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' का अल्पतर तथा 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' का मृदुतम प्रायः समान अर्थ में ही है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के दृढ़तर, मृदुतर तथा अल्पतर—ये तीन प्रयत्न-विभाग क्यों, जबकि 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में क्रमशः मृदुतर प्रयत्न होने का विधान है। प्रश्लिष्ट और प्रातिहत में, तैरोव्यञ्जन तथा पादवृत्त में समान प्रयत्न क्यों? ऐसा मालूम पड़ता है कि 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में जो क्रमशः मृदुतर होने का उल्लेख किया गया है वह उच्चारण-भेद स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होता होगा। सात स्वरों के क्रमशः मृदुतर प्रयत्न से उच्चारण माना जाय तो सात प्रयत्न होंगे, जिनका सूक्ष्म ज्ञान होना कठिन है। इस कठिनाई को अनुभव कर ही, ऐसा मालूम होता है कि तैत्तिरीयप्रातिशाख्यकार ने दृढ़तर, मृदुतर तथा अल्पतर प्रयत्न के रूप में स्वरित के उच्चारण का विधान किया है।

प्रातिशाख्यों, तथा शिक्षा-ग्रन्थों के विवेचन से ऐसा मालूम होता है कि प्रत्येक स्वरित-भेद का उच्चारण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है, सिद्धान्त रूप में सबका उच्चारण-प्रकार अलग-अलग है। किन्तु आज विविध स्वरितों के उच्चारण में ऐसा कोई विशिष्ट पार्थक्य

परिलक्षित नहीं होता, जिसके उच्चारण को सुनकर यह निश्चित रूप से कहा जा सके कि यह सामान्य स्वरित है, यह जात्य स्वरित है अथवा अन्य कोई है। आज स्वरित के उच्चारण में भेद उसके ह्रस्व और दीर्घ रूप में परिलक्षित होता है। आज के वेदपाठी स्वरित को सर्वोच्च स्वर मानकर इसके उच्चारण में ध्वनि को ऊपर उठाते हैं। ह्रस्व स्वरित में ध्वनि एक ही बार ऊपर उठती है, जैसे—पुरोहिंतम् (ऋ० वे० १.१.१)। यहां 'हिं' के उच्चारण में ध्वनि को ऊपर खींचते हैं। दक्षिण-पाठ में दीर्घ स्वरित में ध्वनि को तोड़कर दो बार ऊपर खींचते हैं; जैसे—अ॒ग्निमींळे (ऋ० वे० १.१.१)। यहां मीं पर जो स्वरित है उसका उच्चारण मि·ई ऐसा किया जाता है। उस प्रकार दीर्घ स्वरित में जब स्वर को तोड़ते हैं तो दोनों के बीच एक विवृत्ति सुनाई पड़ती है। दोनों स्वरों को रुक-रुक कर बोलना चाहिये। जैसे इ-ई, उ-ऊ, आ-आ। किन्तु उत्तरी पाठ में एक ही बार ध्वनि को ऊपर खींचते हैं और कुछ देर तक उसको ऊपर रोके रहते हैं, जैसे—प्र॒स्त्यांऽऽऽऽसु, स्वंऽऽः, इत्यादि।

हस्त-प्रचालन द्वारा स्वरित का प्रदर्शन

स्वरों के उच्चारण का सम्बन्ध मुख के विविध अवयवों से है, किन्तु शुक्ल युजर्वेद की माध्यन्दिन-शाखा में स्वरों के उच्चारण के साथ-साथ हस्त-प्रचालन भी प्रचलित है।[१] मुख तथा हस्त दोनों प्रकार के उच्चारण का उल्लेख शिक्षा-ग्रन्थों तथा कुछ प्रातिशाख्यां में हुआ है। 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' तथा 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में तो इसका बड़ा ही विस्तृत विवेचन किया गया है। 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' का कथन है कि मन्त्रगत वर्णों का हाथ और मुख दोनों से उच्चारण करना चाहिये। उदात्तादि स्वरों का उच्चारण करते हुये मुख स्वर के समानकाल में हस्तप्रक्षेप होना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार मुख से उदात्त, अनुदात्तादि का उच्चारण करते हैं, उसी प्रकार उसी के अनुसार हस्तप्रचालन के नियम के अनुसार हाथों को चलाता रहना चाहिये।[२] दोनों साथ-साथ होना चाहिये।[३]

१. हस्तेन ते। वा० प्रा० १.१२१; अनेन प्रकारेण हस्तेन ते स्वराः प्रदृश्यन्ते। तत्रोदात्तम् ऊर्ध्वगमनं हस्तस्य, अनुदात्तेऽधोगमनं हस्तस्य। एतत् सर्वेषामाचार्याणां मतेन स्थितम्। उवट, वा० प्रा० भा० १.१२१।

२. सम्यगुच्चारयेद् वर्णान् हस्तेन च मुखेन च॥ या० शि० १.२५।

३. यथा वाणी तथा पाणी रिक्तं तु परिवर्जयेत्।
यत्र यत्र स्थिता वाणी पाणिस्तत्रैव तिष्ठति॥ या० शि० १.४७।

यदि मुख के स्वर के अनुकूल हस्त-प्रचालन नहीं होगा, अथवा स्वर का गलत उच्चारण होगा तो उच्चारण करने वाला वेद के उच्चारण के फल को प्राप्त नहीं कर सकता।[१] जो वेदपाठी हस्त-स्वर-प्रदर्शन के विना यजुर्वेद के मन्त्र को पढ़ता है, उसको अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं हो सकती, जिस प्रकार व्यञ्जन-रहित भोजन स्वास्थ्यकर नहीं होता।[२] जो वेदपाठी ऋक्, यजुष् तथा साममन्त्रों को हस्तस्वर-प्रदर्शनरहित पढ़ता है, वह ब्राह्मण वैदिक ब्राह्मण तब तक नहीं कहलाता, जब तक स्वर का ठीक-ठीक उच्चारण न करे।[३] जो वेदपाठी हस्तस्वर-प्रदर्शनरहित तथा स्वर-रहित मन्त्र को पढ़ता है, वह ऋक्, यजुष् तथा साम मन्त्रों से दग्ध होकर मनुष्य-योनि से भिन्न योनि या गति को प्राप्त होता है।[४] इसके विपरीत, जो वेदपाठी हस्त-स्वर-प्रदर्शन-युक्त सस्वर मन्त्रों को पढ़ता है, वह ऋक्, यजुष् तथा साम मन्त्रों से पवित्र होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।[५] जिस समय वाणी बन्द हो जाय उस समय हाथ को स्वर-स्थान से हटा देना चाहिये। जब वाणी ठहरती है तो हाथ भी ठहरता है। जिस प्रकार धनुष पर ताने हुये वाण के छूट जाने पर धनुष की डोरी पुनः अपने स्थान पर आ जाती है, उसी प्रकार हाथ भी अपने पूर्वस्थान पर आ जाता है।[६] याज्ञवल्क्य के अनुसार दोमात्रा-काल तक हाथ को स्वर

१. स्वरश्चैव तु हस्तश्च द्वावेतौ युगपत् स्थितौ।
हस्ताद भ्रष्टः स्वराद् भ्रष्टो न वेदफलमश्नुते ॥ या० शि० १.१६।

२. हस्तहीनं तु योऽधीते मन्त्रं मन्त्रविदो विदुः।
न साधयति यजूंषि भुक्तमव्यञ्जनं यथा ॥ या० शि० १.३९।

३. ऋचो यजूंषि सामानि हस्तहीनानि यः पठेत्।
अनृचो ब्राह्मणस्तावद्यावन्त्स्वारं न विन्दति ॥ या० शि० १.४०।

४. हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविर्जितम्।
ऋग्युजः सामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति ॥ या० शि० १.४१।

५. हस्तेनाधीयमानस्य स्वरवर्णान्प्रयुञ्जतः।
ऋग्यजुः सामभिः पूतो ब्रह्मलोकमाप्नुयात् ॥ या० शि० १.४४।

६. यथा वाणी तथा पाणी रिक्तं तु परिवर्जयेत्।
यत्र यत्र स्थिता वाणी पाणिस्तत्रैव तिष्ठति ॥
यथा धनुष्यावितते शरे क्षिप्ते पुनर्गुणः।
स्वस्थानं प्रतिपद्येत तद्वद्हस्तगतः स्वरः ॥ या० शि० १.४६-४७।

स्थान से हटाये रखे।[1] हस्त-प्रचालन के कौन-कौन से दोष होते हैं, इसका भी विवेचन याज्ञवल्क्य ने अपनी शिक्षा में किया है। हस्त-प्रचालन के समय हाथ की मुट्ठी बंधी हुई नहीं होनी चाहिये और नहीं खुली हुई हो।[2] हस्त-प्रचालन के सात दोष हैं[3]—(१) चुलु की आकृतिवाला हाथ, (२) नाव की आकृतिवाला हाथ, (३) सर्वथा खुला हुआ हाथ (४) दण्डाकार हाथ (५) स्वस्तिक आकृतिवाला, अर्थात् अन्तर के साथ खुली चौड़ी अंगुलियों वाला हाथ, (६) मुट्ठी बंधा हुआ हाथ तथा (७) कुठार की आकृतिवाला हाथ। स्वरों के उच्चारण में हस्तप्रचालन के इन दोषों से बचना चाहिये। हस्तप्रचालन में हाथ कितना ऊपर, नीचे, दाहिने और बायें जायेगा इसके विषय में 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' का कहना है कि अंगूठे के पोर से लेकर तर्जनी के पोर तक फैलाने में बीच में जितनी दूरी हो उसे प्रादेश कहते हैं। उतनी दूरी के अन्दर दक्षिण हाथ को चलाये।[4] यह दूरी लगभग १२ अङ्गुल के बराबर होती है। मनुष्य तीर्थ(=कनिष्ठा-मूल) ऊंचा हो, पितृतीर्थ(=तर्जनीमूल) से जल गिरे, ऐसा दक्षिण की ओर झुका हुआ पृष्ठभाग वाला हो और अङ्गुलियां ऋजु रूप में हों, ऐसा हाथ करे।[5] दक्षिण हाथ ऊपर हथेली वाला तथा अङ्गुलियों की ओर कुछ उठा हुआ हो। अङ्गुलियों में कठोरता या कड़ापन न हो, ऐसे हाथ से स्वर के अनुसार हस्तप्रचालन करे।[6]

---

१. ऋचोऽर्द्धे तु द्विमात्रः स्यात्त्रिमात्रः स्यादृगन्तके।
रिक्तं तु पाणिमुत्क्षिप्य द्विमात्रे धारयेद् बुधः॥ या० शि० १.१२।

२. न चासौ मुष्टिबन्धी स्यान्नचान्युत्तममाचरेत्। या० शि० १.३९।

३. चुलुर्नौका स्फुटो दण्डी स्वस्तिको मुष्टिकाकृतिः॥ या० शि० १.३८।
एते वै हस्तदोषाः स्युः परशुश्चेति सप्तमः॥ या शि० १.३९।

४. अङ्गुष्ठस्योत्तरं पर्व यवस्योपरि यद्भवेत्।
प्रादेशस्य तु यो देशस्तन्मात्रं चालयेत्करम्॥ या० शि० १.५०।

५. मनुष्यतीर्थोच्चं कृत्वा पितृतीर्थे जलं व्रजेत्।
नामितं करपृष्ठे तु सुव्यक्ताङ्गुलिमोक्षणम्॥ या० शि० १.४९।

६. उत्तानं सोन्नतं किञ्चित्सुव्यक्ताङ्गुलिरञ्जितम्।
स्वरविच्च करं कुर्यात्प्रादेशोद्देशगामिनम्॥ या० शि० १.४८।

हस्तप्रचालन में अनुदात्त का उच्चारण करते समय हाथ को हृदय क पास रखना चाहिये[1]; उदात्त का उच्चारण करते समय भ्रूप्रान्त के पास तक ले जावे[2]; फिर स्वरित का उच्चारण करते समय हाथ को कान के मूल भाग तक ले जावे।[3] उदात्त के उच्चारण के समय जहां-जहां हाथ हो स्वरित के उच्चारण में उससे तीन अङ्गुल दूरी पर दायें वायें की ओर हाथ होना चाहिये।[4] जात्य, क्षैप्र, अभिनिहित तथा प्रश्लिष्ट इन चार स्वरितों के उच्चारण के समय हाथ तिरछा चलता है।[5] कुछ विद्वान् स्वरित के समय हाथ को नासिका के अग्रभाग के पास रखने का विधान करते हैं।[6] इसका कारण यह है कि स्वरित को उदात्त और अनुदात्त दोनों का संयोग माना जाता है। इसलिये स्वरित के उच्चारण में हाथ को उस स्थान पर रखना चाहिये जहां उदात्त और अनुदात्त के स्थान से इसका सम्बन्ध बना रहे। 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' का कहना है कि स्वरित के उच्चारण में यदि हाथ को ऊपर भ्रूप्रान्त पर ले जाया जायेगा तो उसमें अनुदात्तत्व नहीं बन पायेगा और यदि हाथ को नीचे अनुदात्त-स्थान हृत्प्रदेश पर ले जाया जायेगा तो उसमें उदात्त नहीं बन पायेगा।[7] इसलिये दोनों के बीच

---

१. ह्यद्यनुदात्तः। प्र० सू० प० १.४।
ह्यत्प्रदेशेऽनुदात्तं तु। या० शि० १.५१।

२. मूर्द्धन्युदात्तः। प्र० सू० प० १.५।
उदात्तं भ्रुवि पातव्यम्। या० शि० १.५१।

३. श्रुतिमूले स्वरितः। प्र० सू० प० १.६ ;

४. स्वरिते त्र्यङ्गुलं विद्यान्निपाते तु षडङ्गुलम्।
उत्थाने च नवाङ्गुल्यमेतत् स्वारस्य लक्षणम्॥ या० शि० १.५२।

५. चत्वारस्तिर्यक्स्वरिताः। वा० प्रा० १.१२२।
तिर्यग्जात्यादिकाः स्वराः। या० शि० १.५१।
जात्याभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टा एते चत्वारस्तिर्यग्घस्तं कृत्वा स्वरणीयाः पितृदानवद्हस्तं कृत्वेत्यर्थः। उवट, वा० प्रा० भा० १.१२२।

६. याज्ञवल्क्य शिक्षा की ब्रह्ममुनिकृत हिन्दी व्याख्या में पृष्ठ २० पर उद्धृत वेदाचार्य पं० शिवदास मिश्र, प्राध्यापक, राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ शक्तिनगर दिल्ली का मत।

७. उच्चस्थाने गते हस्ते स्वरितं नोपलभ्यते।
अधस्तस्तु यदा गच्छेत् स्वरित न तदा भवेत्। या० शि० १.९२।

नासिकाग्र भाग के समीप हाथ को रखते हैं। नासिकाग्र भाग भ्रूप्रान्त से नीचा है, इसलिये इसमें अनुदात्तत्व भी है और हृत्प्रदेश से ऊंचा है, इसलिये इसमें अनुदात्तत्व भी है। उदात्त के पश्चात् स्वरित आने पर ऊपर भ्रूप्रान्त से हाथ चलता है। जात्य स्वरित ६ अङ्गुल परिमाण वाला होता है, अर्थात् जात्य स्वरित के उच्चारण के समय हाथ ललाट से ६ अङ्गुल की दूरी पर होता है। ६ अङ्गुल का चौथाई १½ अङ्गुल तर्जनी-मूल द्वारा नीचे झुका रहता है।[१] स्वरित के बाद यदि प्रचय हो तो स्वरित को हाथ से वेग के साथ गिरा दे, जैसे—गुणानां त्वा। यहां नां के बाद प्रचय है, इसलिये नां का उच्चारण करते समय हाथ को झटके के साथ गिराना चाहिये।[२] जहां केवल स्वरित है, अर्थात् उसके आगे कोई प्रचय स्वर न हो तो वहां स्वरित के उच्चारण में हाथ को धीरे से गिराये[३] जैसे–पुरुषः पादोऽस्ये (शु० य० ३१.४)। यहां 'रु' तथा 'दो' में केवल स्वरित है उससे परे प्रचय नहीं है, इसलिये यहां इस स्वरित के उच्चारण के समय हाथ को धीरे से गिराया जाता है। स्वरित वर्ण के परे यदि विसर्ग हो तो उसके उच्चारण के समय तर्जनी और कनिष्ठा इन दो अङ्गुलियों को अङ्गुलि के समूह से बाहर निकालना चाहिये[४], जैसे समिधः। यहाँ 'धः' स्वरित वर्ण है, उसके परे विसर्ग है, इसलिये इसके उच्चारण में तर्जनी तथा कनिष्ठा दोनों अङ्गुलियां बाहर निकलेंगी। कोई भी स्वरित वकार और विसर्ग के सहित ह्रस्व या दीर्घ हो, वहाँ दोनों तर्जनी और कनिष्ठा अङ्गुलियों को अपने समूह से बाहर निकाल लेना चाहिये।[५] जैसे--देवो वः सविता (शु०य०

---

१. षडङ्गुलं तु जात्यस्य हस्तस्यानुपथम्य च।
तच्चतुर्थभागमात्रं तु भूयस्तेनैव वर्तयेत्॥ या० शि० १.५३।

२. प्रचयो यत्र दृश्येत तत्र हन्यात् स्वरं बुधः। या० शि० १.६०।

३. स्वरितः केवलो यत्र मृदुं तत्र निपातयेत्। या० शि० १.६१।

४. ऊर्ध्वक्षेपाच्च योष्मा स्यादधः क्षेपाच्च पातयेत्।
एकैकामुत्सृजेद्धीरः स्वरिते तूभयं क्षिपेत्॥ या० शि० १.६३।

५. स्वरितं यद् भवेत् किञ्चित् सवकारोष्मकं ततः।
ह्रस्वं वा यदि वा दीर्घं निक्षेप उभयोरपि॥ या० शि० १.६६।
विसर्गान्तः स्वरो ह्रस्वः स्वरितो यत्र दृश्यते।
दीर्घस्तु सवकारश्च तत्रोभक्षेप उच्यते॥ या० शि० १.७०।

सं० १.१); अति विश्वाः (शु० य० सं० १२.८४)। यहां 'वः' तथा 'वाः' पर वकार और विसर्गयुक्त स्वरित के उच्चारण में कनिष्ठा और तर्जनी इन दोनों अङ्गुलियों को अपने समूह से बाहर की ओर निकालते हैं। सामान्य रूप से विसर्गयुक्त स्वरित के परे जब अनुदात्त हो और वह अनुदात्त वर्ण संयोग वाला दिखाई पड़े, या बिना संयोग वाला दिखाई पड़े, तब दो मात्रा वाले दीर्घस्वरित के उच्चारण के समय एक अङ्गुलि कनिष्ठा को समूह से बाहर निकाले[1], जैसे—वसोः पवित्रमसि (शु० य० सं० १.२)। यहां 'सोः' विसर्गयुक्त स्वरित है और इसके परे 'प:' बिना संयोग का अनुदात्त है, इसलिये एक अङ्गुलि कनिष्ठा बाहर निकलती है। इसी प्रकार सवितुर्वः प्रसवे (शु० य० सं० १.१२) में 'वः' पर विसर्गसहित स्वरित है और इसके परे 'प्र' अनुदात्त और संयोग वाला है, इसलिये यहां भी एक अङ्गुलि कनिष्ठा को बाहर निकालते हैं। किन्तु जब विसर्गयुक्त स्वरित ह्रस्व होगा तब अनुदात्त परे होने पर भी दोनों अङ्गुलियों कनिष्ठा और तर्जनी को बाहर निकालते हैं, जैसे—तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु (शु० य० सं० ३४.१)। यहां परवर्ती अनुदात्त वर्ण के होने पर भी ह्रस्व होने के कारण, 'नः' के उच्चारण के समय दोनों अङ्गुलियों कनिष्ठा और तर्जनी को उनके समूह से बाहर निकालते हैं। जहां पर जात्य स्वरित वकार युक्त दिखाई पड़े, वहाँ दोनो तर्जनी और कनिष्ठा अङ्गुलि को समूह से बाहर निकाले[2] जैसे—वायव्या (शु० य० सं० २४.१९)। यहां वकारसहित जात्य स्वरित है, इसलिये इस स्वरित के उच्चारण में दोनों अङ्गुलियों को बाहर निकाला जाता है। जहां पर स्वरित विसर्गयुक्त हो वहां दोनों अङ्गुलियों तर्जनी और कनिष्ठा को इस प्रकार बाहर निकालते हैं, जिस प्रकार छोटे बछड़े की दो सींगे या कुमारी के दो स्तन निकले होते हैं।[3]

---

१. स्वरिते संयोगो वापि दृश्यते।
द्विमात्रिके क्षिपेदेकां मात्रिके तूभयं क्षिपेत्॥ या० शि० १.६७।

२. जात्ये च स्वरिते चैव वकारो यत्र दृश्यते।
कर्तव्यस्तूभयोः क्षेपः वायव्या इति दर्शनम्॥ या० शि० १.६८।

३. शृङ्गवद् बालवत्सस्य कुमारीकुचयुग्मवत्।
उभक्षेपः स्वरो यत्र सविसर्ग उदाहृतः॥ या० शि० १.६९।

ऊपर स्वरित के उच्चारण के समय हस्तप्रचालन की विधि का जो उल्लेख किया गया है, वह माध्यन्दिन शुक्लयजुर्वेद की शाखा में ही प्रचलित है। काण्वशाखा में भी यह प्रचलित है, किन्तु कहीं-कहीं दोनों में अन्तर है। माध्यन्दिन-शाखा के अनुसार जात्य, क्षैप्र प्रश्लिष्ट तथा अभिनिहित इन चारों स्वरितों का उच्चारण तिर्यक् हस्त-प्रचालन द्वारा करना चाहिये। किन्तु काण्व-शाखा के अनुसार इन चारों स्वरितों में तिर्यक् हस्त-प्रचालन तभी होगा जब, इनके पूर्व अनुदात्त स्वर हो।[1] उदात्तपूर्व होने पर या अपूर्व होने पर तिर्यक् हस्तप्रचालन नहीं होगा।[2] अनुदात्तपूर्व के उदाहरण—वैष्णव्यौ (का० सं० १.४.१), धान्यमसि (का० सं० १.७.:), स्तूपोऽसि (का० सं० २.१.२), वेदोऽसि (का० सं० १.७.५); अभ्यर्षत् (का० सं० १९.१.११), अभीन्धतामुखे (का० सं० १२.६.१), स्रुचाव (का० सं० २२.७.१३)। इन उदाहरणों में स्वरित के उच्चारण में हाथ को तिर्यक् करना चाहिये। उदात्तपूर्व के उदाहरण—पञ्चदशो व्योम (का० सं० १५.७.१); कतिधा व्यकल्पयन् (का० सं० ३५.१.१०)। अपूर्व के उदाहरण—त्र्यम्बकम् (का० सं० ३.८.४), द्र्वन्नः (का० सं० १२.७.५), इत्यादि। उवट के अनुसार काण्वाचार्य के मत में उदात्तपूर्व या अपूर्व होने पर जात्यादि स्वरितों का उच्चारण तैरोव्यञ्जनवत् हस्तप्रचालन द्वारा करना चाहिये।[3] यदि जात्यादि स्वरितों के ठीक परे उदात्त स्वर हो तो हाथ को अनुदात्तवत् करना चाहिये और उसको प्रकृष्ट रूप से नीचे ले जाना चाहिये[4], जैसे—भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव (का० सं० ३.१.५); प्रसवेऽश्विनोः (का० सं० १.३.६);

---

१. अनुदात्तं चेत्पूर्वं तिर्यङ् निहत्य काण्वस्य। वा० प्रा० १.१२३।

२ एतेषां चतुर्णां जात्यादीनां यद्यनुदात्तं पूर्वं भवति तदा तिर्यग्घस्तं कृत्वा स्वरयितव्याः। काण्वाचार्यस्य मतेन उदात्तपूर्वे अपूर्वे च न भवति।

उवट, वा० प्रा० १.१२३।

३. उदात्तपूर्वेष्वपूर्वेषु च जात्यादिषु तैरोव्यञ्जनवद् हस्तः क्रियते।

उवट, वा० प्रा० १.१२३।

४. ऋजुन्निहत्य प्रणिहन्यते उदात्ते। वा० प्रा० १.२४।

ऋजुन्निहत्य हस्तमनुदात्तवत् ततः प्रकर्षेण निहन्यते नीचीक्रियते, जात्याभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टा उदात्ते परभूते। उवट, वा० प्रा०भा० १.१२४।

यास्वद्धिश्वं न्यत्रिणम् (का० सं० १८.२.१)। यदि उदात्त परे नहीं होगा तो तिर्यक् हस्तप्रचालन द्वारा ही इनका उच्चारण होगा।

ऋग्वेद, कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय आदि शाखाओं में तथा अथर्ववेद में हस्त-प्रचालन की पद्धति प्रचलित नहीं है। इन संहिताओं में बिना हस्त-प्रचालन के ही मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। हां, सामवेद में विविध स्वरों के साथ विविध अङ्गुलियों के खोलने तथा बन्द करने की प्रथा अवश्य प्रचलित है।

अध्याय ४

कम्प स्वर

कम्प स्वर कोई स्वतन्त्र स्वर नहीं है। यह स्वतन्त्र स्वरित का ही अवस्था-विशेष में एक विशिष्ट उच्चारण का नाम है। 'शौनक शिक्षा' में कम्प को वर्ण का एक धर्म बताया गया है।[1] विविध शाखाओं की विविध संहिताओं एवं ब्राह्मणों (जो स्वराङ्कित है) में इसका विविध प्रकार से उच्चारण मिलता है। किस शाखा में इसका किस प्रकार उच्चारण किया जाता था, इसका पूर्ण रूप से विवेचन प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा ग्रन्थों में मिलता है। 'ऋग्वेद-संहिता', 'सामवेद-संहिता', 'अथर्ववेद-संहिता' तथा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय एवं मैत्रायणी शाखा की संहिताओं एवं ब्राह्मणों में कम्प का विधान मिलता है। शुक्ल यजुर्वेद की दोनों शाखाओं—माध्यन्दिन एवं काण्व—की संहिताओं में कम्प का निषेध किया गया है।[2] किन्तु शुक्ल यजुर्वेद की ही किसी शाखा में कम्प का विधान मिलता है।[3] उवट ने माध्यन्दिन-शाखा की संहिता के पदपाठ में ताथाभाव्य नामक

---

१. स्थानं कालो विकाराश्च संवृतं विवृतागमौ।
ईषत्स्पृष्टमघोषत्वं स्वरः कम्पस्तथोष्मता॥
घोषा नासिक्य नासिक्याः वर्णधर्मास्त्विमे मताः।
यावन्तो यत्र ये धर्मास्तावन्तस्तत्र तान् विदुः॥ शौ० शि० ५९-६०।

२. वाजसनेयिनां तु अनुदात्त एव भवति। 'निहितमुदात्तस्वरितपरम्' इत्यनेन सूत्रेणानुदात्त एवेति ज्ञेयम्। उवट, वा० प्रा० भा० ४.१३८।
कम्पाभावो यजुष्षु मैत्रायणीवर्जम्। युधिष्ठिर मीमांसक : 'वैदिक-स्वर-मीमांसा' पृ० १४१, सूत्र १२९।

३. स्वरितस्य चोत्तरो देशः प्रणिहन्यते। वा० प्रा० ४.१३८।
स्वरितस्य य उत्तरो भागः स निहन्यते। उदात्ते स्वरिते वा परभूते एकेषामाचार्याणां मतेन। अत्र च जात्याभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टा एवोदाहरणम्। तथाभूतं तेषां शाखिनां हि स्मरणम्। उवट, वा० प्रा० भा० ४.१३८।

कम्प स्वर का उल्लेख किया है। उसने अपने इस कथन के समर्थन में माध्यन्दिनशाखानुयायी औज्जिहायनक नामक किसी आचार्य के मत को उद्धृत किया है।[1] अमरेश ने 'वर्णरत्नप्रदीप शिक्षा' नामक अपने ग्रन्थ में माध्यन्दिन-शाखा की संहिता में ताथाभाव्य कम्प के विधान का उल्लेख किया है।[2] माध्यन्दिन-शाखा के 'शतपथ ब्राह्मण' में भी कम्प-विधान का उल्लेख कात्यायन ने अपने 'भाषिक परिशिष्ट सूत्र' में किया है।[3] संहिताओं एवं ब्राह्मणों में तो कम्प-विधान मिलता ही है, इन संहिताओं के पदपाठ, क्रमपाठ आदि विविध पाठों में भी कम्प का विधान मिलता है।

कम्प कहां होता है, यह जानने से पूर्व हमें यह जानना आवश्यक है कि कम्प किसको कहते हैं? कम्प का अर्थ क्या है? कम्प का शाब्दिक अर्थ है कम्पन। जब दो ध्वनियों के बीच किसी ध्वनि के उच्चारण में एक थर्राहट, एक कम्पन होतो है, उसको कम्प कहते हैं। कम्प, वस्तुतः, एक विशेष प्रकार के अनुदात्त का नाम है। 'स्वरित का स्वरूप' नामक अध्याय में हम बता चुके हैं कि स्वतन्त्र स्वरित उदात्त और अनुदात्त का समाहार होता है। उसमें उदात्तांश भी होता है और अनुदात्तांश भो। ये कितना होते हैं, इसका भी विवेचन विस्तार-पूर्वक हम प्रथम अध्याय में ही कर आये हैं। किसी-किसी शाखा में सम्पूर्ण मात्रा का अर्द्धभाग अनुदात्त होता है, चाहे स्वरित ह्रस्व मात्रा पर हो, या दीर्घ मात्रा पर हो; किन्तु किसी-किसी शाखा में अनुदात्तांश ह्रस्व स्वरित में $\frac{1}{2}$ मात्रा का तथा दीर्घ स्वरित में $1\frac{1}{2}$ मात्रा का होता है। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के अनुसार ऋग्वेद की किसी-किसी शाखा में स्वतन्त्र स्वरित का उदात्तांश और अनुदात्तांश आधा-आधा होता है। किन्तु जिस

---

१. अतो माध्यन्दिनानां पदकाले ताथाभाव्यसंज्ञकः कम्पो भवति। तथा चोक्तमौज्जिहायनकैर्माध्यन्दिनमतानुसारिभिः—

'अवग्रहो यदा नीच उच्चयोर्मध्यतः क्वचित्।
ताथाभाव्यो भवेत्कम्पस्तनूनप्त्रे निदर्शनम्'

उवट, वा० प्रा० भा० १.१२०।

२. तस्मान्माध्यन्दिनीयानां पदे कम्पो विधीयते। व० र० प्र० शि० ७०।

३. तेषां च प्रागुत्तमादनन्तराणां च कम्पनम्। भा० परि० सू० ३.२०।

शाखा को आधार बना कर 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' लिखा गया है, उसमें ह्रस्व स्वरित में उदात्तांश तथा अनुदात्तांश बराबर-बराबर तथा दीर्घ स्वरित में उदात्तांश ½ मात्राकाल का तथा अनुदात्तांश १½ मात्राकाल का होता है। 'वाजसनेयि-संहिता' में उदात्तांश और अनुदात्तांश बराबर-बराबर होते हैं, इस बात का उल्लेख 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में स्पष्ट रूप से किया गया है। 'तैत्तिरीय-संहिता' में भी स्वरितान्तर्गत उदात्तांश और अनुदात्तांश की व्यवस्था ऋग्वेद के समान ही है। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के अनुसार ऋग्वेद में स्वतन्त्र स्वरित का उत्तरांश जो अनुदात्त-भाग होता है, वह यद्यपि उदात्त नहीं होता, किन्तु उसका उच्चारण उदात्त के समान ही किया जाता है। इसीलिये उसको उदात्तश्रुति कहा जाता है।[1] जैसे—तेंऽवर्धन्त (ऋ० वे० १.८५.७); द्विवींव (ऋ० १. २२.२) द्रूवंन्नः (ऋ० वे० २.७.६); कुन्यां, इत्यादि। किन्तु इस अनुदात्तांश का उदात्तश्रुतित्व तभी तक रहेगा, जब तक कि उसके आगे कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित न आ जाय।[2] यदि उसके आगे कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आ जायेगा तो वहां स्वरितान्तर्गत अनुदात्तांश की उदात्तश्रुति नहीं होगी। ऋग्वेदियों में यही अनुदात्तांश, जो उदात्त या स्वरित परे होने पर उदात्तश्रुति नहीं होता, कम्प कहलाता है।[3] यह अनुदात्तांश नीच स्वरित कहलाता है। नीच स्वर अनुदात्त को कहते हैं, किन्तु नीच स्वरित स्वतन्त्र स्वरित के उत्तरवर्ती अनुदात्तांश को कहते हैं। यही नीच स्वरित जब दोनों तरफ से उच्च स्वरों के बीच में आता है, तो इसके उच्चारण में कम्पन होती है। स्वतन्त्र स्वरित का पूर्वांश उदात्ततर होता है, इसीलिये वह उच्च स्वर है। फिर उत्तरांश नीच स्वरित के बाद जो उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आता है, वह भी उच्च स्वर ही कहलाता है। इसलिये दोनों के बीच में नीच स्वरित कम्पित होता है। इस अनुदातांश को नीच स्वरित इसलिये कहते हैं कि यह हमेशा स्वरित में ही होता है। इसलिये नीच स्वरित का अर्थ हुआ स्वतन्त्र स्वरितान्तर्गत उत्तरांश नीच अर्थात्

---

१. अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः। ऋ० प्रा० ३.५।

२. न चेद् उदात्तं वोच्यते किञ्चित्स्वरितं वाक्षरं परम्। ऋ० प्रा० ३.६।

३. यदि तूदात्तं स्वरितं वा परं स्यात्तदानुदात्तः परः शेषः स्यात्। स च कम्प इत्युच्यते बह्वृचैः। उवट, ऋ० प्रा० भा० ३.६।

अनुदात्तांश। 'उपलेख सूत्र' के अनुसार नीच स्वरित उस स्वरित को कहते हैं, जिसके पूर्व अनुदात्त हो, जैसे—कुन्यां। ऐसे स्वरित के परे उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित रहने पर कम्प होता है।[1] यहां पर नीच स्वरित वस्तुतः स्वतन्त्र स्वरित के लिये ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। चूंकि स्वतन्त्र स्वरित अनुदात्तपूर्व या अपूर्व दोनों प्रकार का होता है, इसलिये केवल इतना ही कहना कि नीचपूर्व स्वरित के परे उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित होने पर कम्प होता है, अपूर्ण विधान है। इसीलिये उपलेखसूत्रकार को पुनः यह विधान करना पड़ा कि न्यंक् आदि पद, जिनमें स्वतन्त्र स्वरित नीचपूर्व नहीं है, उनको भी उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे रहने पर कम्प होता है।[2] स्वतन्त्र स्वरितान्तर्गत अनुदात्तांश को उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे रहने पर 'निहत' नाम से भी पुकारा जाता है।[3]

'तैत्तिरीय-संहिता' को छोड़कर अन्य सभी संहिताओं में, जिनमें कम्प का विधान है, उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर निश्चित रूप से कम्प होता है। 'तैत्तिरीय-संहिता' में स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त होने पर कम्प नहीं होता, स्वतन्त्र स्वरित ज्यों का त्यों बना रहता है, जैसे अप्स्वंन्तरमृतम् (तै० सं० १.७.७)। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार स्वतन्त्र स्वरित के ठीक बाद कोई दूसरा स्वतन्त्र स्वरित आवे तो प्रथम स्वतन्त्र स्वरित के उत्तरांश अनुदात्त-भाग को कम्प होता है[4],

---

१. कम्पयेन्नीचस्वरितं ह्रस्वदीर्घावुभौ स्वरौ। उ० सू० ८.२०।

यस्मिन्पदे यत्स्वरितमनुदात्तपूर्वं यकारयुक्तं वकारयुक्तं तन्नीचस्वरितं विद्यात्। तच्च कम्पयेत्। उप० सू० भा० ८.२०।

२. न्यंगित्येतस्यानीचानामपि कम्पः। व्योमे तनीचीवेत्युदात्तादीनाम्। उ० सू० ८.२८; अनेनानीचानां व्योमप्रकृतीनामुदात्तानामपि न्यंगित्येतस्य कम्पो विधीयते।
उप० सू० भा० ८.२८।

३. द्वियमस्थले पूर्वस्यामेव तस्यां स्वरितप्रकृतावणुमात्रयाऽनि निहतत्वं भवति। द्वियमपरे तु स्थले पूर्वयोरेव प्रकृत्योरणुमात्रया निहतत्वं भवति।
तै० प्रा० त्रि० र० १९.४।

४. द्वियम एके द्वियमपरे ता अणुमात्राः। तै० प्रा० १९.३।

जैसे—तेँऽ१न्योँन्यम् (तै० सं० ६.१.५)। ऐसा पद, जिसमें दो स्वतन्त्र स्वरित लगातार आवें, 'द्वियम' कहलाता है। कभी-कभी एक स्वतन्त्र स्वरित के बाद दो स्वतन्त्र स्वरित लगातार आते हैं, उस पद को 'त्रियम' कहते हैं[1], जैसे—सोँऽ१पोँऽ१भ्यंभ्रियत (तै० सं० ६.१.१)। इसमें प्रथम दोनों स्वरितों के अनुदात्तांश को कम्प होता है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के तस्यामेव प्रकृतौ (१९.४), इस सूत्र के भाष्य में त्रिभाष्य-रत्नकार सोमयार्य ने लिखा है कि जहां दो यम अर्थात् दो स्वतन्त्र स्वरित लगातार आवें, वहां जो प्रकृत स्वरित अर्थात् प्रथम स्वरित है, उसमें जो उत्तरवर्ती अणुमात्रा अनुदात्त होती है, उसी को कम्प कहा जाता है। जब दो स्वतन्त्र स्वरित बाद में आवें तो प्रथम दो स्वरितों का उत्तरवर्ती अनुदात्तांश अणुमात्राकालिक होता है। द्वियम में दोनों स्वरितों तथा त्रियम में तीनों स्वरितों में अणुमात्राकालिक अनुदात्त नहीं होता।[3] इसी का समर्थन कौहलेय ने भी किया है।[4]

'कौहलि शिक्षा' के अनुसार स्वतन्त्र स्वरित के ठीक बाद स्वतन्त्र स्वरित आने पर ही कम्प होता है, उदात्त परे होने पर कम्प नहीं होता। किन्तु कृष्ण यजुर्वेद की ही किसी दूसरी शाखा में उदात्त परे होने पर भी

---

१. यमशब्दः स्वरितपर्यायः। द्वौ यत्र देशे नैरन्तर्येण वर्तेते स 'द्वियमः' तस्मिन्, द्वियमः परो यस्मादसौ द्वियमपरः तस्मिंश्च त्रियमे सति याः स्वरित-प्रकृतयः ताः सर्वा अन्ततः 'अणुमात्राः' अभिनिहता भवन्तीति 'एके' मन्यन्ते।

तै० प्रा० त्रि० र० १९.३।

२. द्वियमस्थले पूर्वस्यामेव तस्यां स्वरितप्रकृतावणुमात्रयाऽपि निहतत्वं भवति। द्वियमपरे तु स्थले पूर्वयोरेव प्रकृत्योरणुमात्रया निहततां भवति। न तु ताः सर्वा अणुकार्यभाज इत्येवकारो बोधयति। तै० प्रा० त्रि० र० १९.४।

३. 'द्वयोः पूर्वोऽणुमात्रिकस्त्रिषु पूर्वावणुमात्रिकावुत्तरः प्रकृत्या'। सोमयार्य द्वारा त्रि० र० १९,४, में उद्धृत।

४. स्वरितस्य संनिपाते कम्पस्त्वभिहितः पुरा। कौ० शि० ३२।

कम्पेषु प्रथमस्स्वार अणुमात्रिक इष्यते।

त्रयाणामावितस्तेषु संनिपातो मिथो यदि॥ कौ० शि० १८।

कम्प का विधान मिलता है। तस्यामेव प्रकृतौ (तै० प्रा० १९.४) के भाष्य में गार्ग्यगोपाल यज्वा ने लिखा है कि हमारी शाखा में स्वरित के ठीक बाद स्वरित आने पर ही कम्प होता है, किन्तु 'कूश्माण्ड काण्ड' में तथा अन्य शाखाओं में स्वरित के ठीक बाद उदात्त आने पर भी होता है,[1] जैसे—तेऽ१स्मद्यक्ष्मम्नागसः (तै० आ० २.४.१) अहम्न्नादोऽ१हमन्नादोऽ१हमन्नादः (तै० आ० ९.१०.६)। 'कौहलि शिक्षा' में भी इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि 'स्वायंभुव काण्ड' में कुछ ऐसे कम्प आये हैं, जो स्वरित के बाद उदात्त आने पर होते हैं[2], जैसे—ग्रीवाँ१बलम् (तै० आ० २.५.२); तन्वाँ१स्वायाम् (तै० आ० २.६.२), इत्यादि। 'कौहलि शिक्षा' का यह भी कहना कि 'ते अस्मद्' वाक्यांश में कुछ लोग कम्प नहीं मानते। इस का कारण उनके अनुसार कम्प के लक्षण का प्रतिकूल होना है। लक्षण के प्रतिकूल होने का अभिप्राय यह है कि 'तैत्तिरीय संहिता' में स्वरित के बाद स्वरित आने पर ही कम्प होता है, किन्तु यहां ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः 'ते अस्मद्' यह पाठ भी गलत है, क्योंकि बिना संधि किये उसमें स्वतन्त्र स्वरित की सत्ता ही नहीं हो सकती, और जब पूर्व में स्वतन्त्र स्वरित ही नहीं तो उसके परे उदात्त हो या स्वरित हो, कम्प होने का प्रश्न ही नहीं उठता। 'ऋग्वेद-संहिता' में प्रचलित कम्प के आधार पर, तेऽस्मद् (तेऽ३स्मद्) में कम्प अवश्य होगा, यदि 'ते' और 'अस्मद्' की संधि हो। इस विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तैत्तिरीय-शाखा की संहिता में स्वतन्त्र स्वरित आने पर ही कम्प होता है, उदात्त परे होने पर नहीं। किन्तु कूश्माण्ड तथा स्वायम्भुव काण्ड में उदात्त परे होने पर भी कम्प होता है।

कम्प स्वर हमेशा स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आने पर ही होता है। यहां यह शंका हो सकती है कि उदात्त के बाद आने वाले स्वरित को उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर कम्प क्यों नहीं होता? इसका कम्प न होने का कारण यह है कि सामान्य स्वरित

---

१. अस्मत्संहितायां तस्यामेव स्वरितात्मिकायामेव प्रकृतौ कम्पो भवति। तथाभूतात्कम्पांशात्पूर्वांशस्तु तस्यामेव स्वरितप्रकृतौ अवतिष्ठते। यत्तूदात्तपरस्य स्वरितस्य कम्पत्वं कम्पात्पूर्वांशस्योदात्तत्वं च शिक्षायां स्मर्यते तत् कूश्माण्डादिविषयं शाखान्तरविषयं च वेदितव्यम्। तै० प्रा० व० १९.४।

२. अथ स्वायंभुवे काण्डे कम्पाः केचिदुदाहृताः।
तत्रोदात्ताः प्रयोक्तव्या निहतांशस्तु पूर्ववत्॥ कौ० शि० २१।

स्वभावतः अनुदात्त होता है। इसमें उदात्त और अनुदात्त का समाहार नहीं होता, जबकि स्वतन्त्र स्वरित में उदात्त और अनुदात्त का समाहार होता है। सामान्य स्वरित में नीच स्वरितत्व का अभाव होता है, अर्थात् उसका अनुदात्तांश अणुमात्राकालिक नहीं। इसलिये जब दो उच्च स्वरों के बीच सामान्य स्वरित आता है तो वह पूर्णरूपेण अनुदात्त ही हो जाता है, जबकि स्वतन्त्र स्वरित उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर अपने पूर्वांश उदात्तत्व तथा उत्तरांश अनुदात्तत्व, जो अणुमात्राकालिक होता है, दोनों को सुरक्षित रखता है। दूसरा कारण यह है कि उदात्त के बाद आने वाला जो स्वरित होता है वह सांहितिक स्वर होता है। उसका स्वरितपरत्व तथा उदात्तपरत्व नहीं हो सकता, अर्थात् उसके परे कोई दात्त या स्वतन्त्र स्वरित नहीं आ सकता। यदि उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आयेगा, तो उसका स्वरितत्व नहीं रहेगा।[1] वह पूर्ण रूप से नीच अर्थात् अनुदात्त हो जायेगा, किन्तु स्वतन्त्र स्वरित पूर्णरूप से अनुदात्त नहीं होता। उसका उत्तरांश अणुमात्राकाल के बराबर अनुदात्त होता है। गार्ग्यगोपाल यज्वा ने द्वियम एके द्वियमपरे ता अणुमात्राः (तै० प्रा० १९.३) के भाष्य में लिखा है कि उदात्तात्परोऽनुदात्तः स्वरितम् (तै० प्रा० १४.२९), इस सूत्र के अनुसार उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर उदात्तपूर्व अनुदात्त को स्वरित नहीं होता, क्योंकि नोदात्तस्वरितपरः (तै० प्रा० १४.३१) के द्वारा उसके स्वरितत्व का निषेध किया गया है।[2] इसीलिये सभी प्रातिशाख्यकारों तथा शिक्षाकारों ने एकमत से यह स्वीकार किया है कि स्वतन्त्र स्वरित (जात्य, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट एवं अभिनिहित) के ही बाद उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आने पर कम्प होता है[3], अन्य किसी भी प्रकार के स्वरित के बाद उदात्त या स्वरित आने पर कम्प नहीं होता।

---

१. उदात्तात्परोऽनुदात्तः स्वरितम्। नोदात्तस्वरितपरः।

तै० प्रा० १४.२९,३१।

उदात्तपरः स्वरितपरो वा उदात्तात् परोऽनुदात्तः स्वरितं नापद्यते।

तै० प्रा० त्रि० र० १४.३१।

२. उदात्तात्परोऽनुदात्तः (तै० प्रा० १४. २९) इत्यस्य तु स्वरितस्य स्वरितपरत्वं न भवति नोदात्तस्वरितपरः (तै० प्रा० १४.३१) इति निषेधात्।

तै० प्रा० वै० १९.३।

३. जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च।
एते स्वाराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः॥ ऋ० प्रा० ३.३४।

किसी-किसी प्रातिशाख्य एवं शिक्षा-ग्रन्थ में कम्प का विधान कुछ ऐसे स्थलों पर भी किया गया मिलता है, जिन में स्पष्ट रूप से स्वरितत्व का अभाव है।[1] 'ऋग्वेद-संहिता' के पदपाठ में ऐसे द्व्युदात्त समस्तपदों में कम्प मिलता है, जिनके पूर्वपद में तनू या शची पद हो तथा उत्तरपद आद्युदात्त हो, जैसे—तनू३नपात्, शची३पतिम्, इत्यादि। 'ऋग्वेद-संहिता' में तनूनपात् तथा शचीपतिम् पाठ ही मिलता है। यहां पर तनू तथा शची आद्युदात्त पद हैं। 'नू' तथा 'ची' को उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः, इस सूत्र के अनुसार स्वरित होना चाहिये, किन्तु नोदात्त स्वरितोदयम्, इस निषेध से स्वरित न होकर अनुदात्त ही रह गया। अब यह प्रश्न उठता है कि इस स्वरित को सामान्य स्वरित मानें या कोई अन्य। देखने में यह सामान्य स्वरित ही प्रतीत होता है, क्योंकि स्वतन्त्र स्वरितों में से न तो यह क्षैप्र स्वरित है, न जात्य स्वरित है, न अभिनिहित स्वरित है और न प्रश्लिष्ट स्वरित ही। क्षैप्र, प्रश्लिष्ट तथा अभिनिहित तो यह किसी हालत में नहीं हो सकता, क्योंकि वे संधिज होते है। जात्य स्वरित भी निश्चित रूप से 'य्' तथा 'व्' के साथ संयुक्त किसी वर्ण पर पाया जाता है, किन्तु यहाँ 'नू' तथा 'ची' में 'य्' तथा 'व्' में से किसी वर्ण का संयोग ही नहीं हुआ है। फिर यहां कम्प कैसे माना जाय? ऋग्वेदप्रातिशाख्यकार ने इसके स्वरितत्व के विषय में एक व्यवस्था दी है। उस व्यवस्था के अनुसार तनू तथा शची पद के साथ आद्युदात्त किसी पद का समास होगा तो तनू तथा शची का जो स्वरित है, वह

प्राक्प्रश्लिष्ट जात्यक्षैप्रान् यच्चाभिनिहितश्च यः।
उदात्तोपस्थिते तेषामेकदेशं प्रकम्पयेत् ॥ मा० शि० ८.५।

चत्वारस्त्वादितः स्वाराः कम्पं पुष्यन्ति शास्त्रतः।
उदात्ते वैकनीचे वा जुह्वो३ग्निस्तत्र दर्शनम् ॥ ना० शि० २.१.११।

नित्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च।
एते स्वाराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः।
शेषस्योदात्तता वा स्यात् स्वारता वा व्यवस्थया ॥

ऋ० प्रा० वै० १९.३ में उद्धृत।

१. उदात्तः पूर्वभागस्तु परभागो निहन्यते।
उदात्तकम्प इत्युक्तः कुत्रचिच्चापि दृश्यते ॥
शची३पतिम् तनू३नपात् रथाना३न्न ये३रा निदर्शनम् ॥ शै० शि०।

पदपाठ में विकल्प से जात्य स्वरित भी माना जा सकता है।[1] इस प्रकार जात्यस्वरित के समान होने के कारण इसका पदान्तीय स्वरित उदात्त या स्वरित परे होने पर निहत होता है, अर्थात् स्वरित के अनुदात्तांश को कम्प होता है। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' (३. २६) के भाष्य में उवट ने लिखा है कि जिस प्रकार स्वरित का अन्तिम अनुदात्तांश उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर निहत होता है, अर्थात् कम्प कहलाता है, उसी प्रकार तनू तथा शची पद पूर्वपद में हों तो उदात्त परे होने पर पदपाठ में इनका अन्तिम अनुदात्तांश निहत होता है, अर्थात् कम्प होता है।[2] इसी कम्प को शिक्षा-ग्रन्थों में ताथाभाव्य कम्प कहा गया है। ताथाभाव्य कम्प का उल्लेख 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य', 'याज्ञवल्क्य शिक्षा', 'माण्डूकी शिक्षा' तथा 'वर्णरत्नप्रदीप शिक्षा' में मिलता है। ताथाभाव्य स्वरित की सत्ता संहितापाठ में नहीं होती। 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में चूंकि इसका उल्लेख किया गया है, इसलिये मालूम होता है कि शुक्ल यजुर्वेद की किसी-न-किसी शाखा में ताथाभाव्य स्वरित की सत्ता अवश्य होगी। ताथाभाव्य स्वरित के विषय में हम 'स्वरित के भेद' नामक अध्याय के 'ताथाभाव्य स्वरित' नामक परिच्छेद में विस्तारपूर्वक कह आये हैं। माध्यन्दिन-शाखा में ताथाभाव्य स्वरित न मानकर कम्प ही माना गया है। 'माण्डूकी शिक्षा' का कथन है कि दो उदात्त स्वरों के मध्य अनुदात्त हो और वहां अवग्रह हो तो वहां कम्प होता है, जैसे—तनूऽनपात्।[3] 'उदाद्यन्तो न्यवग्रहस्ताथाभाव्यः' (वा० प्रा० १.१२०) के भाष्य में उवट ने लिखा है कि माध्यन्दिन-शाखा में ताथाभाव्य स्वरित न होकर पदपाठ के समय ताथाभाव्य नामक कम्प होता है।[4]

---

१. जात्यवद्वा तथा वान्तौ तनूशचीति पूर्वयोः। ऋ० प्रा० ३.२६।

२. जात्येन तुल्यं जात्यवत्। यथा जात्यस्यान्तो निहन्यत उदात्ते परभूते।
एवं तनूशचीपदयोः पूर्वपद्ययोः सतोरन्तो निहन्यते।
उवट, ऋ० प्रा० भा० ३.२६।

३. द्वयोरुदात्तयोर्मध्ये नीचो यस्स्यादवग्रहः।
ताथाभाव्यो भवेत्कम्पस्तनूनपान्निदर्शनम्॥ मा० शि० ७.१०।

४. माध्यन्दिनानां पदकाले ताथाभाव्यसंज्ञकः कम्पो भवति।
उवट, वा० प्रा० भा० १.१२०।

'वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा' में अमरेश ने इसी मत का प्रतिपादन किया है और इस मत के समर्थन में माध्यन्दिन-शाखानुयायी औज्जिहायनक के मत को भी उद्धृत किया है।[1]

ताथाभाव्य कम्प के स्वरूप के विषय में शिक्षाकारों ने कहीं भी इस बात का स्पष्टीकरण नहीं किया है कि यह ताथाभाव्य कम्प उन्हीं द्व्युदात्त समस्तपदों में होगा जिनके पूर्वपद में तनू तथा शची पद हों और उत्तरपद कोई आद्युदात्त पद हो, या सभी प्रकार के द्व्युदात्त पदों में होगा जिनके पदपाठ में अवग्रह से पूर्व अनुदात्त तथा अवग्रह के बाद उदात्त हो। जहां तक उदाहरण के द्वारा स्पष्टीकरण की बात है, मालूम होता है कि शिक्षाकारों को ऋग्वेद प्रातिशाख्य' का ही मत मान्य है, जिसमें तनू तथा शची पद को निश्चित रूप से समास के पूर्वपद में होने का विधान है। ताथाभाव्य कम्प के लिए सब ने तनूऽनपात् या तनूऽनप्त्रे को ही उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। यदि तनू या शची पद से भिन्न पदों के पूर्वपद में होने पर भी कम्प होता, तो निश्चित रूप से कोई न कोई ऐसा उदाहरण मिलता, जिसमें तनू या शची से भिन्न पद पूर्वपद में होते। अब प्रश्न यह है कि यदि तनू तथा शची पद पूर्वपद में होने पर ही कम्प होगा, तो इस बात का शिक्षाकारों ने विधान ही क्यों नहीं कर दिया कि तनू तथा शची पद पूर्वपद में होने पर ही ताथाभाव्य कम्प होगा, अन्यत्र नहीं। चूंकि शिक्षाकारों ने इस बात का कहीं भी जिक्र नहीं किया, इससे यह मालूम होता है कि सम्भवतः उनको सभी द्व्युदात्त समस्तपदों में, यदि अवग्रह से पूर्व अनुदात्त तथा अवग्रह के बाद उत्तरपदादि में उदात्त हो तो, कम्प मान्य होगा, यद्यपि उन्होंने कोई वैसा उदाहरण नहीं दिया। 'शतपथ ब्राह्मण' में

---

१. माध्यन्दिनविरोधी स्यात्ताथाभाव्यस्तु यः स्वरः।
भिन्नौ यतोऽत्र दृश्येते तावुदात्तानुदात्तकौ ॥
तस्मान्माध्यन्दिनीयानां पदे कम्पो विधीयते।
तथोक्तमौज्जिहायनकैर्माध्यन्दिनानुसारिभिः ॥
अवग्रहो यदा नीचः प्रोच्चयोर्मध्यतः क्वचित्।
ताथाभाव्यो भवत्कम्पस्तनूनप्त्रे निदर्शनम् ॥
व० र० प्र० शि० ६९-७१।

जो कम्प का विधान मिलता है, वह इसी सम्भावना का समर्थन करता हुआ प्रतीत होता है। 'भाषिक परिशिष्ट सूत्र' के अनुसार उदात्तपूर्व अनुदात्त को भाषिक स्वर परे होने पर 'शतपथ ब्राह्मण' में कम्प होता है,[१] जैसे—स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् (श० ब्रा० ७.४.१.१९) तु०—स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् (शु० य० सं० १३.४)। यहां द्यामुतेमाम् में 'मु' को कम्प स्वर हुआ है। इसी प्रकार 'भाषिक परिशिष्ट सूत्र' के अनुसार संहिता में उदात्तपूर्व स्वरित को 'शतपथ ब्राह्मण' में भाषिक स्वर परे होने पर कम्प होता है[२], जैसे—नमो भूत्यै येदं चकार (श० ब्रा० ७.२.१.१७), तु०—नमो भूत्यै येदं चकार (शु० य० सं० १२.६५)। यहां भूत्यै पद संहिता में आद्युदात्त है और 'त्यै' को उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः, इस सूत्र से स्वरित होना चाहिये, किन्तु आगे उदात्त होने के कारण वह अनुदात्त है। भूत्यै के बाद 'ये' का भाषिक स्वर है, इसलिये 'शतपथ' में भूत्यै के 'त्यै' को कम्प स्वर होगा। 'शतपथ ब्राह्मण' में कम्प का एक और विधान मिलता है। 'भाषिक परिशिष्ट सूत्र' के अनुसार जहां पर अनेक अनुदात्त पौर्वापर्य रूप में अवस्थित हों, अन्तिम से ठीक पूर्व हों, बिना किसी अन्तर के हों तथा जात्यन्तर से व्यवहित न हों, वहां उन सबको कम्प होता है[३], जैसे—प्रतिष्ठापयति॥ स्वर्णाकः स्वाहेतिः सैषा त्रय्येव विद्या तपति, इत्यादि।

संहितापाठ में पादगत सभी पदों की चूंकि एक इकाई होती है, इसलिये जहां कहीं संहितापाठ में स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आयेगा, कम्प निश्चित रूप से होगा। पदपाठ में पद

---

१. उदात्तपूर्वस्यानुदात्तस्य च। भा० परि० सू० १.२१।

उदात्तः पूर्वो यस्यानुदात्तस्य सोऽयमुदात्तपूर्वः। तादृशानुदात्तस्य भाषिके परे कम्पनं स्यात्। अनन्त भट्ट, भा० परि० सू० भा० १.२१।

२. उदात्तपूर्वस्य स्वरितस्यापि च। भा० परि० सू० १.२२; उदात्तः पूर्वो यस्य स्वरितस्य स उदात्तपूर्वः। तादृशस्य स्वरितस्यापि भाषिके परे कम्पनं स्यात्। अनन्त भट्ट, भा० परि० सू० भा० १.२२।

३. तेषां च प्रागुत्तमादनन्तराणां च कम्पनम्। भा० परि० सू० १.२०; तेषां च प्रागुक्तानां बहूनां पौर्वापर्येणावस्थितानामुत्तमात्पूर्वेषामनन्तराणां च जात्यन्तरेणाव्यवहितानामनुदात्तानां कम्पनं स्यात्। अनन्त भट्ट, भा० परि० सू० भा० १.२०।

स्वतन्त्र हो जाते हैं, इसलिये पूर्ववर्ती पद के साथ स्वर की दृष्टि से परवर्ती पद का कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। प्रायः एक पद में एक ही उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित होता है। उदात्त तो एक पद में कभी-कभी एक से अधिक भी मिल जाता है, किन्तु स्वतन्त्र स्वरित एक पद में एक से अधिक हो, ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता। इसलिये पदपाठ में एक ही पद में स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु पदपाठ में भी कभी-कभी कम्प देखा जाता है। पदपाठ में भी कम्प का वही नियम है, जो संहितापाठ में है। अन्तर केवल इतना ही है कि संहितापाठ में पादगत सभी पद स्वर की दृष्टि से एक इकाई माने जाते है, जबकि पदपाठ में एक पद ही एक इकाई माना जाता है। पद के पदान्तीय वर्ण के प्रगृह्य होने पर या रिफित होने पर जब पदपाठ में इतिकरण होता है तब दो पद पदपाठ में एक साथ आते हैं और कभी-कभी जब परिग्रह में पद की इति के बाद पुनः आवृत्ति करते हैं तो तीन पद एक साथ आते हैं।[1] इन्हीं दो या तीन पदों में यदि पूर्वोक्त अवस्था आ गई, अर्थात् स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आ गया तो पदपाठ में भी कम्प होगा, जैसे—क्वो३ इति (ऋ० वे० प० १.३८.३); स्व१रिति स्वः (ऋ० वे० प० १०.१८९.१)। प्रथम उदाहरण में 'क्वों' पर जो स्वर है वह जात्य स्वरित है और पदान्तीय ओकार प्रगृह्य संज्ञक है[2], इसलिये पदपाठ में क्वों के बाद इतिकरण है। इति आद्युदात्त पद है, इसलिये क्वों के जात्य स्वरित के बाद आने के कारण यहां कम्प हुआ है। दूसरे उदाहरण में 'स्वः' पर जो स्वर है वह जात्य स्वरित है और पदान्तीय विसर्जनीय रिफित है जो संहितापाठ में स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हुआ है, इसलिये इस रेफ को प्रकट करने के लिये पदपाठ में 'इति' का प्रयोग किया गया है। स्वतन्त्र स्वरित के बाद आद्युदात्त इति पद आने के कारण यहां कम्प हुआ है।

तनूनपात्, शचीपति आदि द्व्युदात्त पदों में, जिन के पूर्वपद में तनू तथा शची हैं, जो कम्प का उल्लेख किया गया हैं, वह पदपाठ में ही होता है।

---

१. द्रष्टव्य एन० के० एस तेलंग तथा व्रजबिहारी चौबे : 'द न्यू वैदिक सेलेक्शन', परिशिष्ट-बी, पृ० ५१, 4 (iii) तथा 5 (ii)

२. अपूर्वपदान्तगश्च। ऋ० प्रा० १.७०।

पदपाठ के अलावा क्रमपाठ में भी कम्प का विधान मिलता है। पदपाठ में तो इतिकरण के साथ ही कम्प होता है, किन्तु क्रमपाठ में इसके अतिरिक्त भी होता है, क्योंकि यहां दो पदों की एक इकाई होती है। इसलिये पदपाठ की अपेक्षा क्रमपाठ में कम्प के अधिक उदाहरण मिलते हैं। क्रमपाठ में कम्प के नियमों का विवेचन 'उपलेख सूत्र' नामक ग्रन्थ में मिलता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के ग्यारहवें पटल में, जहाँ क्रमपाठ के नियमों का उल्लेख किया गया है, कम्प का विधान किया गया है। पदपाठ में या क्रमपाठ में इतिकरण के बाद जब पद की आवृत्ति करते हैं तो उसे परिग्रह कहते हैं। परिग्रह में इतिकरण से पूर्व यदि स्वतन्त्र स्वरित हो, चाहे ह्रस्व हो या दीर्घ हो, तो उसको कम्प होता है[1], जैसे—सुभ्व१ इति सुऽभ्वः (ऋ० वे० क्र० १.५२.१); आकाय्य१-स्येत्याऽकाय्यस्य (ऋ० वे० क्र० ४.२९.५); मनुष्या३निति मनुष्यान् (ऋ० वे० क्र० ६.४७.१६); अनूक्या३दित्यनूऽक्यात् (ऋ० वे क्र० १०.१६३.२) सृण्ये३वेति सृण्याऽइव (ऋ० वे० क्र० १०.१०६.६)। एक ही पद में जहां स्वतन्त्र स्वरित हो, संहितापाठ में वहां कम्प हो या न हो, क्रमपाठ में परिग्रह के समय कम्प हो जाता है[2] जैसे—अभ्य१भीत्यभिऽअभि (ऋ० वे० क्र० ९.११०.५); रीत्या३पेति रीतिऽआपा (ऋ० वे० क्र० ९.१०६.९); स्रुची३वेति स्रुचिऽइव (ऋ० वे० क्र० १०.९१.१५); चम्वी३वेति चम्विऽइव (ऋ० वे० क्र० १०.९१.१५) वीर्ये३णेति वीर्येण (ऋ० वे० क्र० १.५५.३); पुरी३वेति पुरिऽइव (ऋ० वे० क्र० ६.२.७) इत्यादि।

इन उदाहरणों में जो कम्प दिखाया गया वह परिग्रह में ही होता है, संहितापाठ में नहीं। इसका कारण यह है कि संहितापाठ में तो स्वतन्त्र स्वरित के बाद अनुदात्त की उदात्तश्रुति ही होती है, कम्प नहीं, जैसे—अभ्यभि, चम्वीव, स्रुचीव, वीर्येण, पुरीव, इत्यादि। जब क्रमपाठ में परिग्रह होता है तो इतिकरण होता है और इति के उदात्त पदादि 'इ'

---

1. ह्रस्वदीर्घाविति तावुभौ स्वरावपि कम्पयेत्। उप० सू० ८.२१।

2. संहितायां पदे वाऽपि नीचस्वरितमुच्यते।
तत्पदं हि भवेत्कम्पमाकारान्तश्च वर्जयेत्॥ उप० सू० ८.२६।

एकस्मिन्पदे यत्र स्वरितं संहिताकाले युक्तमयुक्तं वा अनुदात्तात् पूर्वं दृश्यते तत्स्वरितवत्पदं परिग्रहणे कम्पयेत्। उप० सू० भा० ८.२६।

के साथ पदान्तीय अनुदात्त की संधि होने पर संध्यक्षर उदात्त हो जाता है, और जब संध्यक्षर उदात्त हुआ कि इसके पूर्ववर्ती स्वतन्त्र स्वरित के अनुदात्तांश को कम्प हो जाता है। यदि परिग्रह में ही स्वतन्त्र स्वरित के साथ इति के पदादि उदात्त की संधि हो जाय तो वहां कम्प नहीं होता[1], जैसे—वीर्येति वीर्यां (ऋ० वे० क्र० १.८०.१५)। यहां स्वतन्त्र स्वरित की इति के पदादि उदात्त के साथ जो संधि हुई है वह एकादेश उदात्तेनोदात्तः (पा० ८.२.५), इस सूत्र के अनुसार उदात्त है। इस प्रकार 'र्ये' का स्वर स्वतन्त्र स्वरित न होकर उदात्त हो गया है, इसलिये यहां कम्प नहीं हुआ।

क्रमपाठ में जहां परिग्रह नहीं होता वहां भी स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आने पर कम्प होता है[2], जैसे—ओण्यो३ रसम् (ऋ० वे० क्र० ९.१६.१)। यहां संहितापाठ और क्रमपाठ में कम्प स्वर के विषय में कोई अन्तर नहीं। किन्तु संहितापाठ में जिस पद में कम्प हुआ है, उसका क्रमपाठ में पूर्व पद के साथ पाठ होगा तो वहां कम्प नहीं होगा, जैसे—स्रोतारं ओण्योः (ऋ० वे० क्र० ९.१६.१)। इसका कारण यह है कि स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त या स्वरित नहीं है। इसकी उदात्तश्रुति होगी। इस प्रकार यदि क्रमपाठ में स्वतन्त्र स्वरित के बाद अनुदात्त आ गया तो वहां कम्प नहीं होगा[3], जैसे—अभ्यर्ष (ऋ० वे० क्र० ९.१.४)।

पदपाठ तथा क्रमपाठ के अतिरिक्त आठ प्रकार के विकृति-पाठों का भी उल्लेख मिलता है। ये पाठ हैं—(१) जटा, (२) माला,

---

१. अन्त्यं पदं विचार्येत उदात्तो यत्र न दृश्यते।
कम्पं तत्र न कुर्वीत न चोदात्तेन संयुतम्॥ उप० सू० ८.२३-२४।

२. स्वरैकदेशं स्वरितस्य चोत्तरं।
यदा निहन्यादनिमित्तमक्षरम्॥ ऋ० प्रा० ११.५६।

स्वरितस्वरस्योत्तरमनुदात्तमेकदेशं तूदात्तस्वरितपरं सन्तं निहन्ति वक्ता।
उवट, ऋ० प्रा० भा० ११.५६।

३. क्रमकाले त्वकम्पः स्यान्नीचश्चेदुत्तरं पदम्॥ उप० सू० ८.२७।

अनेनोदात्तात् स्वरितात्परेभ्यो नियतम्। अस्य विशेषविषयमाह—क्रमकाले इति। क्रमकाले परिग्रहकाले उदात्तात् स्वरितात् पूर्वो यः स्वरितः तयोर्मध्ये अनुदात्तेनाक्षरेण व्यवहिते च कम्पो न भवतीति। उप० सू० भा० ८.२७।

लोपं याति क्रमे कम्पोऽनुदात्ते तु परे पदे।
उदात्ते तु प्रकृत्या अभ्यर्ष कर्व दिवो यथा॥ उप० सू० ९.१३।

(३) शिखा, (४) रेखा, (५) ध्वज, (६) दण्ड, (७) रथ और (८) घन।[1] इन आठ प्रकार के पाठों में भी कम्प के उच्चारण का विधान किया गया है। 'कौहलि शिक्षा' का आग्रह है कि जटापाठादि में भी कम्प, स्वर, संधि आदि का नियमित रूप से प्रयोग करना चाहिये।[2]

दो उदात्त स्वरों के बीच या स्वरित एवं उदात्त के बीच आने वाले अनुदात्त को 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में विक्रम स्वर के नाम से पुकारा गया है[3], जैसे—वोढ्वे (तै० सं० १.६.२); योऽस्य स्वोऽग्निः (तै० सं० ५.७.९) तस्य क्वं (तै० सं० २.६.५), इत्यादि। इस अनुदात्त को कम्प नहीं होता। इस अनुदात्त के कम्प न होने का कारण यह है कि यह अणुमात्राकाल का नहीं होता। स्वतन्त्र स्वरित के अन्तर्गत ही जो उसका उत्तरवर्ती अनुदात्तांश होता है, वह अणुमात्राकाल का होता है, इसलिये वहां कम्प होता है। यहां जो अनुदात्त होता है, जिसे विक्रम स्वर कहते हैं, पूर्ण ह्रस्व या पूर्ण दीर्घ मात्राकाल का होता है। कम्प के लिये उसका अणुमात्राकालिक होना आवश्यक है।[4] पदान्त में जो अणुमात्राकालिक अनुदात्त होता है वही कम्प कहलाता है। विक्रम स्वर में कम्प का निषेध 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में भी किया गया है। न पूर्वशास्त्रे न पूर्वशास्त्रे (तै० प्रा० १९.५), इस सूत्र के भाष्य में त्रिभाष्यरत्नकार ने स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया है कि विक्रम स्वर कम्प स्वर से बिल्कुल भिन्न है। विक्रम स्वर में कम्प नहीं होता, क्योंकि विक्रम स्वर में दृढ़ प्रयत्न होता है, जबकि कम्प में दृढ़ प्रयत्न का बिल्कुल अभाव होता है।[5]

---

१. जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥
अनन्त भट्ट, जटादिविकृतिलक्षणम्, भूमिका।

२. जटायां वक्ष्यमाणायां कम्पसंधिस्वरादयः।
अवधाय प्रयोक्तव्या निपुणं तदुदीरितम्॥ कौ० शि० ५६।

३. स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचं स्यादुदात्तयोर्वाऽन्यतरतो वोदात्तस्वरितयोः स विक्रमः। तै० प्रा० १९.१।

४. 'पदान्ते च तथा कम्पा अन्ततो निहताणुकाः'।
तै० प्रा० त्रि० र० १९.३ में उद्धृत।

५. पूर्वशास्त्रं नाम विक्रमविधिः। तस्मिन्नेतदणुकार्यं न भवति। एवं वा

स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आने पर कम्प क्यों होता है ? स्वतन्त्र स्वरित में जो पूर्व उदात्तांश होता है उसका उच्चारण उदात्ततर होता है। यहां उस उदात्ततर स्वर के बाद स्वरित के शेष अनुदात्तांश का उच्चारण करना पड़ता है। जब इसके आगे उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आयेगा तब यह अनुदात्तांश अणुमात्राकाल का होता है। उदात्ततर स्वर का उच्चारण करके अणुमात्राकालिक अनुदात्तांश के उच्चारण पर आकर फिर उदात्त या उदात्ततर उच्चारण करने में अनुदात्तांश के उच्चारण में एक कम्पन आ जाती है। अगर उदात्ततर के बाद अनुदात्तांश का उच्चारण करते हैं और उसके आगे कोई उदात्त या उदात्ततर स्वर नहीं है, तो वहां अनुदात्त से फिर स्वर को ऊपर खींचने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वहां उदात्ततर के बाद अनुदात्तांश के उच्चारण में उदात्त के धरातल पर आ जाते हैं, इसीलिये उसे 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में उदात्तश्रुति कहा गया है। अगर आगे कोई अनुदात्त है तो स्वरित का अनुदात्तांश भी उदात्त-धरातल पर आकर पुनः परवर्ती अनुदात्त अर्थात् नीच स्वर में मिल जाता है; फलस्वरूप वहां कम्पन नहीं होती। अगर स्वतन्त्र स्वरित के बाद अनुदात्त हो और पुनः स्वतन्त्र स्वरित या उदात्त हो तो वहां भी कम्प नहीं होता, क्योंकि स्वरित के उदात्ततर अंश के उच्चारण के बाद उसके अनुदात्तांश के उच्चारण में उदात्त-धरातल पर आकर पुनः नीच धरातल पर जाते हैं। इस प्रकार उच्चारण करने वाले को स्वास लेने का अवसर मिल जाता है और पुनः उदात्त या उदात्ततर स्वर का उच्चारण करता है। यही 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' का विक्रम स्वर है, जिसका उल्लेख हम पीछे कर आये हैं। एक गेंद पैर से मारने के बाद आकाश की ओर जाता है; अगर किसी खिलाड़ी ने पृथिवी पर गिरने से पूर्व ही उसे पुनः पैर से मार दिया तो वह गेंद पुनः आकाश की ओर जायेगा, लेकिन इस बार उसमें मारने वाले की शक्ति तथा गेंद की पूर्व विरोधी शक्ति सम्मिलित होगी। यही हालत कम्प स्वर की है। उच्चारण-स्थान के उच्च भाग से उच्चारण करने के बाद नीचे उतरते हुये बीच में फिर उतने जोर से उच्चारण नहीं किया जा सकता। उच्च-स्वर से उच्चारण करने के बाद जब स्वर नीचे उतरने लगता है,

---

सूत्रार्थः—पूर्वशास्त्रे अध्यायप्रथमसूत्रे या विक्रमसंज्ञा उक्ता, सा कम्पविषावत्र न भवति। विक्रमस्य दृढ़प्रयत्नत्वात्, कम्पस्य तदभावात्। त्रि० र० १९.५।

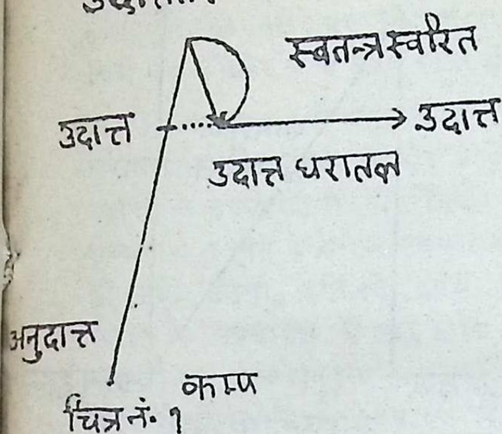
तब उच्चारण करने वाले अवयव शिथिल पड़ने लगते हैं। उच्चारण के निम्न धरातल पर आकर स्वांस-नली को कुछ आराम लेने के बाद फिर जोर से उच्चारण हो सकता है, किन्तु बिना नीचे आये बीच से ही उच्च स्वर में पुनः उच्चारण नहीं हो सकता। इसलिये यहां कम्पन होती है। कम्प की विभिन्न अवस्थाओं को रेखाचित्रों के द्वारा दिखाया गया है।

चित्र नं० १ और २ में कम्प दिखलाया गया है। चित्र नं० १ में अनुदात्तपूर्व स्वतन्त्र स्वरित का उदात्त परे होने पर कम्प दिखाया गया है। अनुदात्तपूर्व या अपूर्व स्वतन्त्र स्वरित उच्चारण में अनुदात्त के धरातल से उपर उठता है। स्वतन्त्र स्वरित का जो उदात्तांश है, वह उदात्ततर होता है, अर्थात् उदात्त से भी थोड़ा उच्च होता है। इसीलिये उदात्त के बाद स्वर को उदात्ततर तक दिखाने के लिये उदात्त की सीमा से ऊपर तक रेखा बढ़ाई गई है। उदात्ततर उच्चारण के बाद स्वतन्त्र स्वरित का जो अनुदात्तांश है उसका उच्चारण होता है। उदात्ततर से स्वर नीचे गिरना शुरु होता है[1], किन्तु यह गिरकर अनुदात्त के धरातल पर न आकर उदात्त के धरातल तक ही आता है। आगे उदात्त के उच्चारण के लिये स्वर को कुछ देर तक उसी धरातल पर रोकना पड़ता है। गिरते हुये स्वर को उदात्त-धरातल पर रोकने में एक अणुमात्रा-काल के लिये कम्पन होती है। चित्र नं० २ में गिरते स्वर को उदात्त-धरातल पर रोकना ही नहीं पड़ता, बल्कि थोड़ा और ऊपर पुनः उदात्ततर धरातल तक उठाना होता है, जिससे स्वर में अणुमात्राकाल की कम्पन होती है।

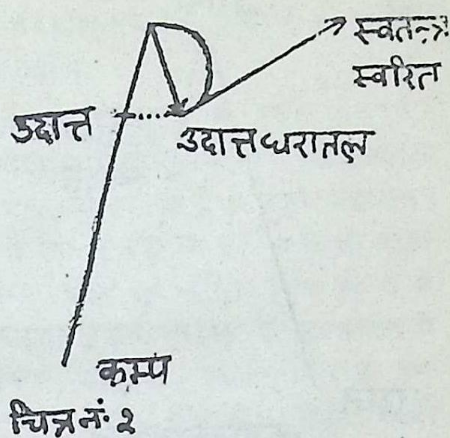
चित्र नं० ३ से लेकर चित्र नं० ८ तक में कम्प नहीं होता। चित्र नं० ३ में अनुदात्तपूर्व स्वतन्त्र स्वरित या अपूर्व स्वतन्त्र स्वरित अनुदात्त के धरातल से ऊपर उठता है, उदात्ततर तक पहुंचता है, फिर उसके अनुदात्तांश के उच्चारण में वह गिरना शुरू होता है और उदात्त-धरातल तक ही रह जाता है और इसी में उस स्वर का पर्यवसान हो जाता है। चित्र नं० ४ में स्वरित का अनुदात्तांश उदात्त-धरातल पर उच्चरित

---

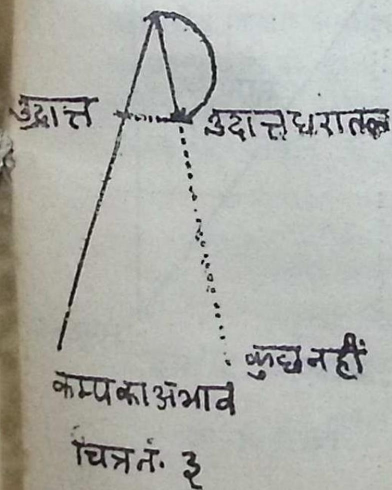
१. अनुदात्तमुपादाय स्वरितं ह्यवलम्बयेत्।
पुनर्निहतमागच्छदेष कम्पविधिः स्मृतः॥ शौ० शि० ५७।



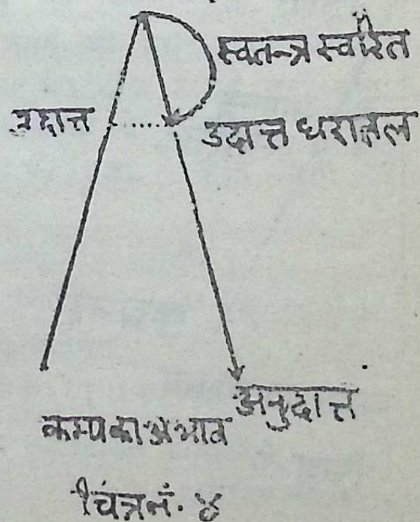
चित्र नं. 1



चित्र नं. 2



चित्र नं. 3



चित्र नं. 4

हो सकता। सम्भव है तस्यैवोदात्तश्रवणं, यह भ्रष्ट पाठ हो। तस्यैवोदात्तश्रवणं के स्थान पर तस्यैवानुदात्तश्रवणं, ऐसा पाठ मानें तो यह कम्प-विधान 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के कम्प-विधान से मेल खा जायेगा। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में स्वरित के अनुदात्तांश को सामान्य रूप से अनुदात्ततर[1] या अनुदात्तसम[2] माना गया है। यहां अनुदात्ततर या अनुदात्तसम का अर्थ है अनुदात्त से न्यून। अनुदात्तसम का यह अर्थ नहीं है कि अनुदात्त के समान। यदि सम का अर्थ यहां न्यून नहीं लिया जायेगा तो वह अनुदात्त ही हो जायेगा, उसमें स्वरितत्व का अभाव हो जायेगा; और इस प्रकार स्वरित्व के अभाव में स्वरित परे होने पर कम्प ही नहीं होगा। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर यह अणुमात्राकालिक होता है।[3] 'वैदिकाभरण' में गार्ग्यगोपाल यज्वा ने यह प्रश्न उठाया है कि स्वरित परे होने पर पूर्ववर्ती सम्पूर्ण स्वतन्त्र स्वरित नीच (अनुदात्त) होगा या उसका कोई भाग नीच होगा? उत्तर में उन्होंने यह कहा है कि सम्पूर्ण स्वरित नीच नहीं होता, बल्कि उसका उत्तरांश अणुमात्रा के बराबर भाग नीच होता है, जो कम्प कहलाता है। अणु का अर्थ है ह्रस्वमात्राकाल का चतुर्थांश। शिक्षा-ग्रन्थों में भी अणु को एक ह्रस्वमात्राकाल का चतुर्थांश बताया गया है। सिद्धान्त रूप में वैदिकाभरणकार ने बताया है कि 'तैत्तिरीय-संहिता' में स्वतन्त्र स्वरित के ठीक बाद स्वतन्त्र स्वरित आने पर पूव स्वतन्त्र स्वरित का अन्तिम ¼ ह्रस्वमात्राकाल नीच होता है।[4] 'कौहलि शिक्षा' भी 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' का समर्थन करती है। अर्थात् कम्प के

---

१. अनन्तरो वा नीचैस्तराम्। तै० प्रा० १.४४।

२. अनुदात्तसमो वा। तै० प्रा० १.४५; आदिरस्योदात्तसमश्शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः। तै० प्रा० १.४६।

३. द्वियम एके द्वियमपरे ता अणुमात्राः। तै० प्रा० १९.३।
'पदान्ते च तथा कम्पा अन्ततो निहताणुकाः'।
तै० प्रा० त्रि० र० १९.३ में उद्धृत।

४. तस्मिन् स्वरितपरे एके आचार्याः शिक्षाकाराः नीचमिच्छन्ति। तत्किं कृत्स्नस्य पूर्वस्वरितस्य नीचत्वमिष्यते? नेत्युच्यते। ता अणुमात्राः, ताश्च नीचप्रकृतयोऽणुपरिमाणा भवन्ति। अणुर्नाम ह्रस्वकालस्य चतुर्थोऽशः। 'ह्रस्वस्वरूपं विज्ञेयं चतुर्भिरणुभिस्तथा' इति शिक्षाकारवचनात्। तथा च स्वरितात्पूर्वस्य स्वरितस्यान्ते पादमात्रं नीचं भवतीति सिद्धम्। तै० प्रा० वै० १९.३।

लिये अणुमात्राकाल का विधान करती है।[1] 'कौहलि शिक्षा' का यह भी कथन है कि कुछ आचार्यों के अनुसार प्रथम स्वरित का उत्तरार्ध कम्प होता है, अर्थात् अर्धमात्राकाल का कम्प होता है।[2] यदि प्रश्लिष्ट स्वरित के साथ अन्य स्वतन्त्र स्वरितों का संयोग हो तो एक मात्रा का तृतीय या चतुर्थ भाग कम्प होता है।[3] कुछ आचार्य तो कम्प का उच्चारण स्वेच्छापूर्वक करते हैं, अर्थात् कभी अणुमात्राकाल के बराबर करते हैं, कभी तृतीय भाग के बराबर, कभी चतुर्थ भाग के बराबर।[4]

कम्प के उच्चारण के लिये जितने मात्राकाल का विधान किया गया है उससे दुगुना काल और एक पाद उसके उच्चारण में लगाना चाहिये, ऐसा शिक्षाकारों का स्पष्ट मत है। ऋग्वेदप्रातिशाख्यकार ने यद्यपि इस दुगुने और पाद-मात्राकाल के बराबर उच्चारण करने का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु ऋग्वेद की ही 'शैशिरीय शिक्षा' तथा 'शौनक शिक्षा' में इसका विधान मिलता है।[5] ऋग्वेद से ही सम्बन्धित 'उपलेख सूत्र' में कम्प के मात्राकाल से दुगुना उच्चारण करने का विधान किया गया है। 'उपलेख सूत्र' के अनुसार स्वरित के ह्रस्व होने पर पुनः एक ह्रस्वमात्रा कम्प में जोड़नी चाहिये, अर्थात् दो ह्रस्वमात्रा करनी चाहिये। यदि स्वरित दीर्घ हो तो उसमें भी दीर्घमात्रा कम्प में जोड़नी चाहिये। इस प्रकार स्वरित के अनुरूप ही कम्प का समय शौनकादि आचार्यों ने बताया है।[6] शिक्षाकारों का कहना है कि स्वरित का

---

१. कम्पेषु प्रथमस्स्वारो अणुमात्रिक इष्यते ।
त्रयाणामादितस्तेषु संनिपातो मिथो यदि ॥ कौ० शि० १८ ।

२. अपरः प्रथमस्यार्धं निहतं तु विधीयते । कौ० शि० १८ ।

३. तृतीयो वा चतुर्थो वा भागो निहत इष्यते ।
प्रश्लिष्टस्य च संयोगस्तेषामन्यतमेन चेत् ॥ कौ० शि० १९ ।

४. स्वेच्छाप्रयोग इच्छन्ति कम्पं तत्रापि केचन । कौ शि० २० ।

५. मध्ये तु कम्पयेत् कम्पमुभौ पार्श्वौ समौ भवेत् ।
द्विगुणं वर्णकालाच्च पादः कम्पार्थमिष्यते ॥
शै० शि० ; शौ० शि० ५६ ।

६. ह्रस्वे ह्रस्वं विजानीयाद्दीर्घे दीर्घं तथैव च ।
स्वरितस्यानुरूपेण कम्पं कुर्वीत शास्त्रवित् ॥ उप० सू० ८.२० ।
ह्रस्वे कम्पमाने पुनः ह्रस्वं विजानीयात् ; ह्रस्वद्वयमित्यर्थः दीर्घेऽपि तथैव

अनुदात्तांश, जो कम्प कहलाता है, अणुमात्राकाल का होता है। अणुमात्राकाल का उच्चारण करना बड़ा ही कठिन है, इसलिये पूर्वांश का कम्पकाल से अधिक अर्थात् दुगुने काल में उच्चारण करना चाहिये।[२] इसलिये 'शैशिरीय शिक्षा' का कहना है कि स्वर, कम्प, तथा रंग इनके लिये उच्चारण का जितना समय स्वाभाविक रूप से निर्धारित किया गया है, वह बोलने वाले के लघु प्रयत्न में बोलने में बढ जाता है।[३] 'नारदीय शिक्षा'[४], 'कौहलि शिक्षा'[५] आदि में ह्रस्व कम्प को दीर्घ करने का विधान मिलता है।

कम्प के उच्चारण में मात्राकाल बढ़ाने का जो उल्लेख किया गया है, वह काफी उलझनपूर्ण है। एक तरफ तो सामान्य रूप से केवल इतना ही कथन किया किया जाता है कि स्वर, कम्प एवं रङ्ग के उच्चारण में उच्चारण की निर्धारित मात्रा बढ़ जाती है। इसमें यह नहीं बताया गया कि कितनी मात्रा बढ़ती है। दूसरी तरफ 'नारदीय शिक्षा' एवं 'कौहलि शिक्षा' आदि में केवल अदीर्घ को दीर्घ करने का विधान है। जब केवल अदीर्घ को ही दीर्घ करने का विधान है तो यह सामान्य नियम क्यों बनाया गया कि सभी कम्प के उच्चारण की मात्रा बढ़ जायेगी। अपरं च 'उपलेख सूत्र' में ह्रस्व और दीर्घ दोनों कम्पों के मात्राधिक्य का विधान है। दूसरी बात यह है कि कम्प के उच्चारण-काल को

दीर्घम्। अनुरूपेणेत्यनेन स्वरितस्य सादृश्यं पदञ्चार्द्धमात्रञ्च यथाक्रमेण कम्पस्य कालमाहुः शौनकादयः। उ० सू० भा० ८.२२।

२. अस्मिन् विषये ह्रस्वस्वरितोऽपि द्विमात्रो भवति, 'अदीर्घं दीर्घवत्कुर्यात् द्विस्वरं यदि दृश्यते' इति शिक्षावचनात्। स खल्वनुदात्तांश कम्प इत्युच्यते। तस्य यद्यप्यणुमात्रत्वमिहोच्यते, तथाऽप्युच्चारणदौर्घट्यात् ततः पूर्वांशस्य कालः कम्पग्रासादधिककाल उच्चार्यते।

तै० प्रा० वै० १९.३।

३. स्वाराः कम्पाश्च रङ्गाश्च ये यत्कालास्स्वभावतः।
वर्धन्ते प्रोच्यमानास्ते क्षिप्रयत्नेऽपि वक्तरि॥ शै० शि०।

४. अदीर्घं दीर्घवत्कुर्यात् द्विस्वरं यत्प्रयुज्यते।
कम्पोत्स्वरिताभिगीतँ ह्रस्वकर्षणमेव च॥ ना० शि० २.३.७।

५. अदीर्घं दीर्घवत् कार्यं ह्रस्वस्य कर्षणात्। कौ० शि० २०।

दीर्घ करना चाहिये या ह्रस्व या दीर्घ मात्रा को, जिस पर स्वतन्त्र स्वरित है, दीर्घ करना चाहिये ? 'शैशिरीय शिक्षा' से ऐसा मालूम होता है कि स्वतन्त्र स्वरित जिस ह्रस्व या दीर्घ वर्ण पर है उसकी मात्रा को दुगुना करते हैं और अन्त में ¼ मात्राकाल और जोड़ देते हैं। इस प्रकार ह्रस्व कम्प के उच्चारण में २¼ मात्राकाल तथा दीर्घ कम्प के उच्चारण में ४¼ मात्राकाल लगता है। 'वैदिकाभरण' में गार्ग्यगोपाल यज्वा ने भी कम्प के पूर्वांश को अधिक मात्राकाल में उच्चारण करने का समर्थन किया है, जैसे—पितृदेवत्यां१ँ होतत् (तै० सं० ६. २. १०); वीर्यां१ व्यभजन्त (तै० सं० ६.६.८); तेऽ१न्योन्यम् (तै० सं० ६.१.५), इत्यादि। यदि कम्प के उच्चारण को ही दीर्घ करें तो कम्प को जो अणुमात्रा होता है वह दीर्घ होकर अर्द्धमात्रा के बराबर हो जायेगा। इस प्रकार ह्रस्व कम्प में १½ मात्राकाल तथा दीर्घ कम्प में २½ मात्राकाल लगेगा। किन्तु यह मत शिक्षा से मेल नहीं खाता। अदीर्घ को दीर्घ करने का अभिप्राय ही है—ह्रस्वमात्र को दो-मात्राकाल वाला बनाना। वैदिकाभरणकार ने साफ लिखा है कि कम्प के समय ह्रस्व स्वरित दो-मात्राकाल का हो जाता है। इसलिये ह्रस्व कम्प १½ मात्राकाल का ही हो नहीं सकता। कम्प के उच्चारण-काल के विषय में एक और विकल्प हो सकता है। वैदिकाभरणकार ने जो यह लिखा कि अस्मिन् विषये ह्रस्वस्वरितोऽपि द्विमात्रो भवति, इसमें 'अपि' शब्द इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि ह्रस्व कम्प में भी दो-मात्राकाल होता है, दीर्घ कम्प में तो दो-मात्राकाल होता ही है। इस प्रकार इस विकल्प के अनुसार कम्प चाहे ह्रस्व स्वरित पर हो या दीर्घ स्वरित पर हो, सर्वत्र उसकी मात्रा २¼ होगी। यदि कम्प को भी दीर्घ करेंगे तो उसकी मात्रा २½ होगी। 'सामवेद-संहिता', तैत्तिरीय संहिता', 'मैत्रायणी-संहिता' तथा ऋग्वेद (कश्मीर पाठ) में कम्प ह्रस्व स्वरित पर हो या दीर्घ स्वरित पर, सर्वत्र दीर्घ ही माना जाता है। इसलिये ह्रस्व कम्प के तथा दीर्घ कम्प के अंकन में कोई भिन्नता नहीं। किन्तु ऋग्वेद तथा अथर्ववेद (शौनक) में ह्रस्व कम्प के अंकन में अन्तर है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में ह्रस्व कम्प तथा दीर्घ कम्प के अंकन में जो अन्तर है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह इसलिये है कि दोनों का उच्चारण समान रूप से नहीं किया जाता, जैसे—अप्स्व१न्तः, पुस्त्या३स्वा, इत्यादि।

कम्प के भेद

शिक्षा-ग्रन्थों में कम्प के कई भेदों का उल्लेख मिलता है। इनमें बताये गये भेदों का आधार एक नहीं। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य', 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य', 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' तथा 'अथर्ववेद प्रातिशाख्य' इनमें किसी कम्प का भेद नहीं बताया गया है। जिस स्वतन्त्र स्वरित से परे उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आता है, वह स्वतन्त्र स्वरित ह्रस्व वर्ण पर है या दीर्घ वर्ण पर, इस आधार पर कम्प के दो भेद किये गये हैं—(१) ह्रस्व कम्प और (२) दीर्घ कम्प। 'उपलेख सूत्र' में ह्रस्व और दीर्घ कम्प के विभाजन का आधार दिखाई पड़ता है।[1] स्वतन्त्र स्वरित यदि ह्रस्व अक्षर पर है तो वह कम्प ह्रस्व कम्प कहलाता है, जैसे—अप्स्व१न्तः तथा यदि दीर्घ अक्षर पर है तो वह दीर्घ कम्प कहलाता है। जैसे—पुरस्त्याऽ३स्वा 'कौहलि शिक्षा' में भी कम्प के दो भेद—ह्रस्व कम्प तथा दीर्घ कम्प का उल्लेख किया गया है। ह्रस्व कम्प का उदाहरण वीर्यं१बलम् तथा दीर्घ कम्प का उदाहरण 'तन्वांऽ३स्वाऽऽयाम्' दिया गया है।[2]

'नारदीय शिक्षा' में ह्रस्व और दीर्घ कम्प का उल्लेख तो मिलता ही है, साथ में एक शिवकम्प का भी उल्लेख किया गया है। किन्तु यहां ह्रस्व कम्प तथा दीर्घ कम्प की जो परिभाषा दी गई है, वह उस परिभाषा से मेल नहीं खाती, जिसका अभी ऊपर हम ने उल्लेख किया है। तीनो कम्पों की परिभाषायें 'नारदीय शिक्षा' में उत्तरोक्त प्रकार से दी गई हैं।

ह्रस्व कम्प:—इकारान्त पद पूर्व में हो तथा उकार परे हो तो यहां पर निश्चित रूप से ह्रस्व कम्प समझना चाहिये।[3] 'नारदीय शिक्षा' में ह्रस्व कम्प का कोई भी उदाहरण नहीं दिया गया है।

---

१. द्रष्टव्य, पीछे पृ. ९५ टि. ६।

२. वीर्यं१बलमिति ह्यत्र ह्रस्वः कम्प उदीरितः।
तन्वांऽ३स्वायामित्यादि दीर्घः कम्पो विधीयते ॥ कौ० शि० २२।

३. इकारान्ते पदे पूर्वे उकारे परतः स्थिते।
ह्रस्वं कम्पं विजानीयान्मेधावी नात्र संशयः ॥ ना० शि० २.२.१।

दीर्घ कम्प :—इकारान्त पद पूर्व में हो तथा दो उकार उसके परे हों तो वहां दीर्घ कम्प समझना चाहिये[1], जैसे—ग॒व्यू॒३षु (ऋ० वे० ८.६१.५)।

शिवकम्प :—अनेक उदात्तों के बाद यदि कोई अनुदात्त आवे और फिर उसके आगे कोई उदात्त स्वर हो तो वह शिवकम्प कहलाता है।[2] 'नारदीय शिक्षा' में इस शिवकम्प का भी कोई उदाहरण नहीं दिया गया है।

'नारदीय शिक्षा' में जो इन तीन कम्प स्वरों का विधान किया गया है वह विलक्षण है। जहां तक कम्प स्वर की बात है, वह जात्य, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट एवं अभिनिहित स्वरितों पर ही मिलता है। ह्रस्व कम्प और दीर्घ कम्प ये जो दो विभाग हैं, इनमें ह्रस्व कम्प केवल जात्य और क्षैप्र स्वरित के एकदेश में मिलता है। शेष में, अर्थात् जात्य और क्षैप्र के दीर्घ रूपों में तथा अभिनिहित एवं प्रश्लिष्ट स्वरितों में दीर्घ कम्प मिलता है। अभिनिहित तथा प्रश्लिष्ट स्वरित चूंकि दीर्घ स्वरों पर ही होते हैं, इसलिये इन पर जो कम्प होता है वह दीर्घ कम्प ही होता है, ह्रस्व कम्प नहीं। 'नारदीय शिक्षा' में कहा गया है कि पूर्वपद इकारान्त हो तथा उत्तरपद उकार हो तो ह्रस्व कम्प होगा, तथा पूर्वपद में उकार हो और उत्तर-पद में दो उकार हो तो दीर्घ कम्प होगा, यह ठीक नहीं। पहली बात यह है कि 'इ' तथा 'उ' की केवल क्षैप्र संधि होती है, इसलिये यदि 'नारदीय शिक्षा' को मानें तो ह्रस्व कम्प केवल क्षैप्र स्वरित के ह्रस्व रूप में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं, जबकि वास्तविकता यह है कि जात्य स्वरित में भी ह्रस्व कम्प मिलता है। दूसरी बात, कि इकारान्त पद के साथ 'उ' के अतिरिक्त भी 'अ' तथा 'आ' की तथा उकारान्त पद के साथ पदादि 'अ' और 'ऽ' की भी क्षैप्र संधि देखी जाती है, और

---

१. इकारान्ते पदे चैवोकारद्वयपरे पदे।
दीर्घं कम्पं विजानीयाच्छ्गव्यूष्विति निदर्शनम्।
त्रयो दीर्घास्तु विज्ञेया ये च संध्यक्षरेषु वै।
अन्यापथ्यानइन्द्राभी शेषा ह्रस्वाः प्रकीर्तिताः॥ ना० शि० २.२.२-३।

२. अनेकानामुदात्तानामनुदात्तः प्रत्ययो यदि।
शिवकम्पं विजानीयादुदात्तः प्रत्ययो यदि॥ ना० शि० २.२.४।

इस स्वरित पर जो कम्प होता है, वह ह्रस्व कम्प ही कहलाता है, जैसे—अभ्य१ंशुम् (ऋ० वे० ८.७२.२); अप्स्व१न्तः (ऋ० वे० १.२३.१९) त्वि१मा (ऋ० वे० ८.५१.४), इत्यादि। इसी प्रकार दीर्घ कम्प के लिये पूर्वपद का इकारान्त होना तथा उत्तरपद में दो उकार का होना अतिव्याप्ति एवं अव्याप्तियुक्त है। क्षैप्र स्वरित के दीर्घ रूपों में पूर्वपदान्तीय इकार न होने पर भी दीर्घ कम्प मिलता है, जैसे—तृष्वा३ंदधाति (ऋ० वे० १०७९.५); न्वे३व (ऋ० वे० ४.५.७), इत्यादि। इस प्रकार पूर्वपदान्त में 'इ' होने पर और उत्तरपदादि में दो 'उ' न होने पर भी दीर्घ कम्प होता है, जैसे—अभ्या३ंचरन्ती (ऋ० वे० ८.९६.१५)। यदि केवल पद के अन्त में 'इ' तथा पदादि में दो 'उ' होने पर ही कम्प होता, तो उपर्युक्त उदाहरणों में कम्प होता ही नहीं।

'नारदीय शिक्षा' में ह्रस्व एवं दीर्घ कम्प की परिभाषा में जो यह कहा गया गया है कि पूर्वपद के अन्त में इकार हो तथा उत्तरपदादि में क्रमशः उकार तथा दो उकार हों तो कम्प होता है, इसका एक दूसरा अर्थ भी किया जा सकता है। यहाँ पर उकार वस्तुतः उकार का वाचक न होकर उपलक्षण मात्र है। उकार से यहां अभिप्राय ह्रस्वमात्रा से है। पाणिनि ने 'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' (पा० १ २.२७) इस सूत्र के द्वारा यह विधान किया है कि 'उ' के उच्चारण में जितना समय लगता है वह एक ह्रस्वमात्राकाल का होता है; 'ऊ' के उच्चारण में जितना समय लगता वह एक दीर्घमात्राकाल का होता है, तथा 'ऊ ३' के उच्चारण में जितना समय लगता है वह एक प्लुतमात्राकाल का होता है। 'नारदीय शिक्षा' में कम्प के लिये 'इ' के परे 'उ' का विधान यह बताता है कि 'इ' के परे कोई ह्रस्व असमान स्वर हो तो कम्प होगा। इसी प्रकार दीर्घ कम्प के लिये 'इ' के परे दो 'उ' का विधान यह बताता है कि 'इ' के परे कोई दीर्घ असमान स्वर होगा तो कम्प होगा। दो उकार का अर्थ दीर्घ ऊकार से है। किन्त उत्तरपदादि 'उ' या दो 'उ' की यह व्याख्या करने पर भी हम अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोष से बच नहीं सकते। पूर्वपदान्तीय 'इ' होने पर भी कम्प होता है, जैसे—क्वे३तत् (ऋ० वे० १०.१२.५); तृष्वा३ंदधाति (ऋ० वे० १०.७९.५), इत्यादि। इनमें उत्तरपदादि में दो 'उ' अर्थात् दीर्घ स्वर है, किन्तु पूर्वपदान्त में 'इ' नहीं है, फिर भी कम्प हुआ है। इसी प्रकार उत्तरपदादि में ह्रस्व होने पर भी कम्प होता है,

जैसे—अभी३दम् (ऋ० वे० १०.४८.७); गृहे३मृतस्य (ऋ० वे० १०. १८६.३), इत्यादि।

अनेक उदात्तों के बाद आने वाले अनुदात्त को उदात्त परे होने पर जो शिवकम्प कहा गया है, वह कम्प कहीं दिखाई नहीं पड़ता। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में ऐसे अनुदात्त को सामान्य अनुदात्त ही मानते हैं। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में इस प्रकार के अनुदात्त को विक्रम स्वर कहा गया है। यहाँ कम्प नही होता। इसमें अनुदात्त की पूरी ह्रस्व या दीर्घ मात्रा होती है। वह अणुमात्राकाल का नहीं होता। 'सामवेद-संहिता' में इस प्रकार का उदाहारण नहीं मिलता। सामवेद में कम्प स्वर अङ्क ३ के द्वारा दिखाया जाता है, किन्तु कहीं भी इस प्रकार के कम्प के लिये ३ का प्रयोग नहीं मिलता। इससे यही सिद्ध होता है कि वहां कम्प नहीं होता। यदि वहां कम्प होता तो यह अङ्क वहां अवश्य होता।

सोमयार्य ने 'त्रिभाष्यरत्न' में एक शिक्षा-वचन को उद्धृत किया है, और वहां लिखा है कि इस शिक्षा-वाक्य में जो व्यवस्था दी गई है उससे दो प्रकार के कम्प का उल्लेख होता है—उदात्त कम्प और स्वरित कम्प।[1]

उदात्त कम्प :— 'त्रिभाष्यरत्न' के अनुसार स्वतन्त्र स्वरित के ठीक बाद यदि कोई उदात्त स्वर आता है, तो वहां स्वरित के परवर्ती अनुदात्तांश को कम्प होता है. जैसे—अप्स्व१न्तः। चूंकि यह कम्प उदात्त परे होने पर होता है, इसलिये इसे उदात्त कम्प कहते हैं। त्रिभाष्यरत्नकार ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि यह जो उदात्त कम्प है वह 'तैत्तिरीय-संहिता' में नहीं होता इतर वेद-भाग अर्थात् आरण्यक एवं उपनिषद् में ही होता है। 'कौहलि शिक्षा' ने इस प्रकार के उदात्त-कम्प की सत्ता स्वायंभुव काण्ड में कहीं-कहीं मानी है।[2] गार्ग्यगोपाल यज्वा ने लिखा है कि उनकी शाखा में उदात्तपर स्वतन्त्र स्वरित को कम्प नहीं होता।

---

१. व्यवस्थाशब्देनानेन द्विविधः कम्प उक्तः। संहितायां स्वरितकम्पः इतरवेदभागे उदात्तकम्प इति। ये कम्पाः प्रसिद्धाः तेष्वेतल्लक्षणं न तु कम्पविधायकम्। तै० प्रा० त्रि० र० १९.३।

२. अथ स्वायंभुवे काण्डे कम्पाः केचिदुदाहृताः।
तत्रोदात्ताः प्रयोक्तव्या निहतांशस्तु पूर्ववत्॥ कौ० शि० २१।
ते अस्मदिति वाक्यांशे कश्चित् कम्पो न पठ्यते।
लक्षणं प्रतिकूलं तद् ब्रुवते केऽपि सूरयः॥ कौ० शि० २३।

यदि उदात्तपर को भी कम्प हो तो लोकेऽस्मिन् गोष्ठेऽस्मिन् (तै० सं० १. ५.६) में भी कम्प होने लगेगा। इसलिये उनकी शाखा में स्वतन्त्र स्वरित-पर स्वतन्त्र स्वरित के उत्तर अनुदात्तांश को ही कम्प होता है। गार्ग्य-गोपाल यज्वा का कहना है कि जो यह उदात्तपर स्वतन्त्र स्वरित के कम्प का विधान है वह कूश्माण्डादि में तथा अन्य शाखाओं के लिये ही है।[1] जैसे—तंऽ१स्मद्यक्ष्ममनागसः (तै० आ० २.४.१); अहमन्नादोऽ१हम-न्नादोऽ१हमन्नादः (तै० आ० ९. १०. ६), इत्यादि। 'ऋग्वेद-संहिता', 'अथर्ववेद-संहिता' (शौनक), मैत्रायणी तथा 'सामवेद-संहिता' में इसी उदात्त कम्प की प्रधानता है।

'शैशिरीय शिक्षा' के अनुसार जब पूर्व में उदात्त हो और उसके परे स्वरित हो और पुनः उसके परे उदात्त हो तो स्वरित को कम्प होता है और इसी को उदात्त कम्प कहा जाता है[2], जैसे—तनू३नपात् (ऋ० वे० ३.२९.११); शची३पतिम् (ऋ० वे० १.१०६.६), इत्यादि। यह कम्प संहितापाठ में नहीं होता, केवल पदपाठ में ही मिलता है। इसको 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' तथा 'माण्डूकी शिक्षा' में ताथाभाव्य कम्प कहा गया है।[3] 'शैशिरीय शिक्षा' में उदात्त कम्प के लिये एक और उदाहरण दिया गया है—'रथानां न' (ऋ० वे० १०.७८.४)। यहां शिक्षाकार ने किस प्रकार कम्प माना है, स्पष्ट नहीं है। तनू३नपात्, शची३पतिम्, इन पदों में पदपाठ के समय कम्प मिलता है। शाकल-शाखा की 'ऋग्वेद-संहिता'

---

१. नन्वत्रोदात्तपरस्यापि स्वरितस्य कम्पस्स्मर्यते। ततः 'अस्मिन्लोकेऽस्मि-न्गोष्ठेऽस्मिन्' (तै० सं० १.५.६) इत्यादावपि कम्पस्स्यात्। तथाभूतात्कम्पांशात्-पूर्वस्यांशस्य कुत्रोदात्तता कुत्र वा स्वरिततेति च न ज्ञायते इत्यत्राह। अस्मत्संहितायां तस्यामेव स्वरितात्मिकायामेव प्रकृतौ कम्पो भवति। तथाभूतात्कम्पांशात्पूर्वांशस्तु तस्यामेव स्वरितप्रकृतौ अवतिष्ठते। यत्तूदात्तपरस्य स्वरितस्य कम्पत्वं कम्पात्पूर्वांशस्योदात्तत्वं च शिक्षायां स्मर्यते तत् कूश्माण्डादिविषये शाखान्तरविषयं च वेदितव्यम्। यथा—तंऽ१स्मद्यक्ष्ममनागसः (तै० आ० २, ४), अहमन्नादोऽ१हम-न्नादोऽ१हमन्नादः (तै०आ० ९.१०.६), इत्यादि तत्रैव द्रष्टव्यम्॥ तै०प्रा० वै०१९.४।

२. उदात्तः पूर्वभागस्तु परभागो निहन्यते।
उदात्तकम्प इत्युक्तः कुत्रचिच्चापि दृश्यते।
शची३पतिम् तनू३नपात् रथानां न निदर्शनम्।

३. द्रष्टव्य, पीछे पृ. ८५।

के पदपाठ में कम्प का चिह्न दिया गया है, किन्तु इनमें 'रथा॑नां न' के संहितापाठ और न पदपाठ में ही कम्प का चिह्न मिलता है। पदपाठ में तो कम्प हो नहीं सकता, क्योंकि पदपाठ के समय 'न' पद अलग हो जायेगा। संहितापाठ में भी किसी प्रकार कम्प नहीं होगा। जब 'रथा॑नां न' में कम्प हो ही नहीं सकता, तो शिक्षाकार ने यहाँ कम्प के उदाहरण रूप में इसको क्यों उद्धृत किया? ऐसा मालूम पड़ता है कि यहां उदाहरण में कुछ कमी है। 'रथा॑नां न' जिस पाद में है वह पाद इस प्रकार है—रथा॑नां न ये॒१॑राः सना॑भयो (ऋ० वे० १०.७८.४)। यहाँ पर ये॒१॑राः[1] में कम्प है। ऐसा मालूम पड़ता है कि शिक्षाकार को उदात्त कम्प को दिखाने के लिये ये॒१॑राः पद ही वांछित होगा, किन्तु केवल ये॒१॑राः को न उद्धृत कर 'रथा॑नां न ये॒१॑राः' इतना अंश उद्धृत किया होगा। बाद में लिपिकारों ने ये॒१॑राः पद को छोड़ दिया और तब से 'रथा॑नां न' इतना अंश ही, जिसमें कम्प है ही नहीं, कम्प के उदाहरण के रूप में प्रचलित हो गया। आज भी विद्वानों ने इस वस्तु-स्थिति को समझने की भूल की है। 'शौनक शिक्षा' के एक संपादक केरलीय विद्वान् श्री के० एन० एम० दिवाकरन् नम्बूदिरी ने सूत्र ५८ के भाष्य में उदात्त कम्प के उदाहरण में शची॒पति॑म्, तनू॒नपा॑त् के साथ 'रथा॑नां नये' को उद्धृत किया है।[2] 'रथा॑नां नये' यह पाठ बिल्कुल गलत है। 'नये' एक पद नहीं। 'न' नकारात्मक निपात है। 'ये' के साथ इसका कोई समास नहीं। पुनश्च ये॒१॑राः में जो कम्प है उसका उल्लेख ही नहीं। 'ये' के बाद अ॒राः आने के कारण यहां कम्प है। इसलिये यदि इसको उदाहरण रूप में उपस्थित करना ही था तो रथा॑नां न ये॒१॑राः, इतना वाक्यांश उद्धृत करना चाहिये था।

स्वरित कम्प :—स्वतन्त्र स्वरित के ठीक बाद कोई दूसरा स्वतन्त्र स्वरित आने पर पूर्व स्वरित के उत्तरवर्ती अनुदात्तांश को जो कम्प होता है, वह स्वरित कम्प कहलाता है। 'तैत्तिरीय-संहिता' में केवल यही

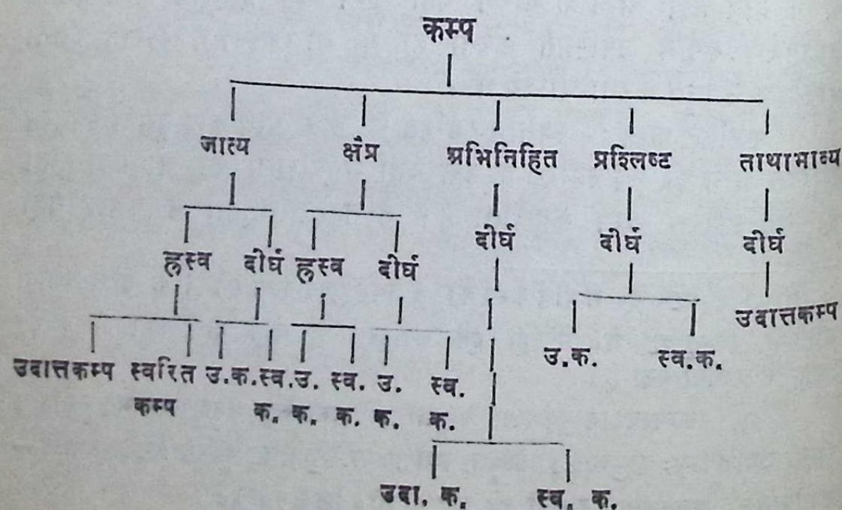
---

१. ऋ० वे० में दीर्घ कम्प को ३॒॑ तथा ह्रस्व कम्प को १॒॑ के द्वारा दर्शाया जाता है, किन्तु ऋ० वे० में यही एक उदाहरण है जहां दीर्घ कम्प को १॒॑ इस चिह्न से दर्शाया गया है।

२. कम्पस्वरस्य पूर्वभागः यद्युदात्तः, परभागस्तु अनुदात्तश्च भवेत् तर्हि स कम्पः उदात्तकम्पः इत्युच्यते। तादृशः उदात्तकम्पः कुत्रचित् दृश्यते। उदाहरणानि—शची॒पति॑म्, तनू॒नपा॑त्, रथा॑नां नये इति। शौ० शि० पृ० ३८।

स्वरित कम्प होता है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य', 'कौहलि शिक्षा' आदि में इसका स्पष्ट रूप से कथन किया गया है। किन्तु ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद, तथा मैत्रायणी-संहिता में भी यह कम्प मिलता है। ऋग्वेद में स्वरित कम्प का केवल एक ही उदाहरण य़ो३ह्यौं (ऋ० वे० १०.१४०.४) मिलता है।

ऊपर कम्प स्वर के जो भेद—ह्रस्व कम्प, दीर्घ कम्प, उदात्त कम्प तथा स्वरित कम्प—दिये गये हैं वे कम्प के आधारभूत स्वरित के स्वरूप का पूर्ण रूप से विवेचन नहीं करते। ह्रस्व कम्प तथा दीर्घ कम्प केवल यही बताते हैं कि स्वरित, जिस पर कम्प हुआ है, ह्रस्व है या दीर्घ। इसी प्रकार उदात्त कम्प तथा स्वरित कम्प केवल इतना ही बताते हैं कि स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त आया है या स्वरित। कम्प के आधारभूत स्वरितों के स्वरूप का भी स्पष्ट रूप से बोध हो जाय। इस दृष्टि से विविध स्वरितों के आधार पर ही कम्प के नाम दिये जायें तो वह अधिक उपयुक्त होगा। जैसा कि 'स्वरित के भेद' नामक अध्याय में बताया गया है, स्वतन्त्र स्वरित के चार भेद हैं—जात्य स्वरित, क्षैप्र स्वरित, अभिनिहित स्वरित तथा प्रश्लिष्ट स्वरित। इन्हीं चार स्वरित-भेदों के आधार पर कम्प के भी चार भेद होते हैं—(१) जात्य कम्प, (२) क्षैप्र कम्प, (३) अभिनिहित कम्प, तथा (४) प्रश्लिष्ट कम्प। ताथाभाव्य कम्प को भी कम्प का पांचवा भेद माना जा सकता है। कम्प के भेदों को निम्नलिखित वृक्ष के द्वारा भी दिखाया जा सकता है :—



(१) जात्य कम्प—जात्य स्वरित के बाद उदात्त या स्वरित आने पर जो कम्प होता है उसे जात्य कम्प कहते हैं। यदि जात्य स्वरित ह्रस्व पर है तो कम्प ह्रस्व-जात्य-कम्प कहलायेगा तथा यदि दीर्घ पर है तो वह दीर्घ-जात्य-कम्प कहलायेगा, जैसे—उक्थ्यं१बृहस्पते (ऋ० वे० २.२३.१४); उक्थ्यो३रथः (ऋ० वे० ४.३६.१)। ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद तथा मैत्रायणी-संहिता में ह्रस्व-जात्य-कम्प तथा दीर्घ-जात्य-कम्प उदात्त परे होने पर ही मिलता है, स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर नहीं। इसलिये इनमें स्वरित-जात्य कम्प का उदाहरण नहीं मिलता। 'तैत्तिरीय-संहिता' में स्वरित-जात्य-कम्प ही मिलता है, उदात्त-जात्य-कम्प नहीं। इसमें स्वरित-ह्रस्व-जात्य-कम्प तथा स्वरित-दीर्घ-जात्य-कम्प दोनों के उदाहरण मिलते हैं, जैसे—वीर्यं१व्यंभजन्त (तै० सं० ६.६.८.७); मनुष्यां१ह्येष (तै० सं० ६.३.२.५)।

(२) क्षैप्र कम्प—क्षैप्र स्वरित के बाद उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आने पर जो कम्प होता है उसे क्षैप्र कम्प कहते हैं। यदि क्षैप्र स्वरित ह्रस्व वर्ण पर है तो वह कम्प ह्रस्व-क्षैप्र-कम्प तथा यदि दीर्घ वर्ण पर है तो दीर्घ-क्षैप्र-कम्प कहलाता है, जैसे—अप्स्व१न्तः (ऋ० वे० १.२३.१९); अभ्या३चरन्ती (ऋ० वे० ८.९६.१५)। ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद तथा 'मैत्रायणी-संहिता' में ह्रस्व-क्षैप्र-कम्प तथा दीर्घ-क्षैप्र-कम्प उदात्त परे होने पर ही मिलते हैं, स्वरित परे होने पर नहीं। किन्तु 'तैत्तिरीय-संहिता' में ह्रस्व-क्षैप्र-कम्प तथा दीर्घ-क्षैप्र-कम्प स्वरित परे होने पर ही होते हैं, जैसे--ह्यौ१षोऽभि (तै० सं० ६ १.१४.५)। स्वरित-ह्रस्व-क्षैप्र-कम्प का उदाहरण 'तैत्तिरीय-संहिता' में नहीं मिलता।

(३) अभिनिहित कम्प—अभिनिहित स्वरित के बाद उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आने पर जो कम्प होता है, उसे अभिनिहित कम्प कहते हैं। अभिनिहित स्वरित निश्चित रूप से दीर्घ वर्ण पर ही होता है, इसलिये इसमें ह्रस्व कम्प होता ही नहीं। यदि अभिनिहित स्वरित के बाद उदात्त हो तो वह कम्प उदात्त-अभिनिहित-कम्प कहलाता है, जैसे—अध्वरेऽ३ग्निः (ऋ० वे० ३.२७.४) और यदि स्वरित हो तो वह कम्प स्वरित-अभिनिहित-कम्प कहलाता है। 'तैत्तिरीय-संहिता' में यही स्वरित-अभिनिहित-कम्प होता हैं, जैसे—तें१न्योऽन्यम् (तै० सं० ६.१.५.१; ६.४.१०.१)। 'ऋग्वेद-संहिता' में भी इस स्वरित-अभिनिहित-कम्प

का उदाहरण मिलता है, किन्तु केवल एक ही, और वह है—यो॑३ह्यः (ऋ० वे० १०.१४४.४)। अथर्ववेद, सामवेद तथा मैत्रायणी में इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता।

(४) प्रश्लिष्ट कम्प—प्रश्लिष्ट स्वरित के बाद उदात्त या स्वरित आने पर जो कम्प होता है वह प्रश्लिष्ट कम्प कहलाता है। प्रश्लिष्ट स्वरित भी अभिनिहित स्वरित के समान निश्चित रूप से दीर्घ वर्ण पर होता है, इसलिये इसमें भी ह्रस्व कम्प नहीं होता। प्रश्लिष्ट स्वरित के बाद उदात्त आने पर उदात्त-प्रश्लिष्ट-कम्प होता है, जैसे—अभी॑३दम् (ऋ० वे० १०.४८.७)। 'तैत्तिरीय-संहिता' तथा 'सामवेद-संहिता' में प्रश्लिष्ट-कम्प का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

(५) ताथाभाव्य कम्प—कम्प के उपर्युक्त चारों भेदों में स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आने पर ही कम्प के होने का उल्लेख किया गया है। कहीं-कहीं पदपाठ में द्व्युदात्त समस्तपदों में पूर्व पदान्तीय स्वरित उत्तरपदादि उदात्त के कारण अनुदात्त हो जाता है, वहां भी कम्प होता है। इस कम्प को ताथाभाव्य कम्प कहते हैं, जैसे—तनू॑३नपा॑त् (ऋ० वे० प० ३.२९.११), शची॑३पतिम् (ऋ० वे० प० १.१०६.६), इत्यादि। इसका विवेचन विस्तार से हम पीछे कर आये हैं

अध्याय ५

वैदिक वाङ्मय में स्वरिताङ्कन के प्रकार

वैदिक वाङ्मय में स्वरिताङ्कन के विविध रूप प्रचलित हैं। जहां एक ओर, कहीं-कहीं एक वेद का स्वरिताङ्कन-प्रकार दूसरे वेद के स्वरिताङ्कन-प्रकार से भिन्न मिलता है, वहां दूसरी ओर, एक ही वेद की संहिता का स्वरिताङ्कन-प्रकार उसके ब्राह्मण और आरण्यक-भाग के स्वरिताङ्कन-प्रकार से भिन्न है। किसी-किसी संहिता में तो स्वरित के विभिन्न भेदों के भी अङ्कन का प्रकार भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार स्वरित के अङ्कन में जितनी विविधता है, उतनी विविधता अन्य स्वरों के अङ्कन में नहीं। यहां हम उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में (जो स्वराङ्कित हैं) प्रयुक्त स्वरिताङ्कन के प्रकार का उल्लेख करेंगे।

१. स्वतन्त्र स्वरित के अङ्कन का प्रकार

संहिता में जिस प्रकार स्वतन्त्र स्वरित उदात्तपूर्व, अनुदात्तपूर्व तथा अपूर्व हो सकता है, उसी प्रकार वह उदात्तपर, अनुदात्तपर तथा अपर भी होता है। उदात्तपूर्व, अनुदात्तपूर्व या अपूर्व होने से उसके अङ्कन में जहां अन्तर दिखाई पड़ता है, वहां उदात्तपर, अनुदात्तपर, प्रचयपर तथा अपर होने से भी उसके अङ्कन में विविधिता दिखाई पड़ती है।

अनुदात्त-प्रचयपर तथा अपर स्वरिताङ्कन—

(१) ऋग्वेद[1] (शाकल), 'वाजसनेयि संहिता' (काण्व), 'तैत्तिरीय-संहिता' (ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्-सहित) तथा 'कपिष्ठलकठ-संहिता' में अनुदात्तपर, प्रचयपर या अपर स्वतन्त्र स्वरित को वर्ण के ऊपर एक खड़ी रेखा से चिह्नित करते हैं, जैसे—वीर्याणि प्र (ऋ० वे० १.

---

१. 'ऋग्वेद-संहिता (पूना संस्करण) भाग ४ के परिशिष्ट में दिये गये खिल सूक्तों में स्वरांकन कश्मीर पाठ के अनुसार माना जाता है। इसमें स्वतन्त्र स्वरित को वर्ण के ऊपर एक वक्ररेखा (ᐢ) से चिह्नित किया गया है, जैसे—वृक्र्य (खि० १.१२.७); स्वः (खि० १.११.४)।

१५४.१); तेऽवर्धन्त (ऋ० वे० १.८५.७); कन्यां (ऋ० वे० ३.३३ १०), इत्यादि।

विशेष—यहां वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से स्वरित को इसलिये अङ्कित किया जाता है कि क्योंकि इनमें उसको उदात्ततर माना जाता है। उदात्त स्टैण्डर्ड स्वर है, इसलिये इनमें उदात्त को अचिह्नित रखा जाता है; अनुदात्त नीच स्वर है, इसलिये उसे वर्ण के नीचे अङ्कित किया जाता है।

(२) 'वाजसनेयि-संहिता' (माध्यन्दिन) में अनुदात्तपर, प्रचयपर तथा अपर स्वतन्त्र स्वरित को वर्ण के नीचे एक समकोण के चिह्न (ᒪ) से अङ्कित करते हैं, जैसे—वीर्याणि प्र (शु० य० सं० ५.२८) ; वधोऽसि (शु० य० सं० १.२८); कन्याः (शु० य० सं० १७.९७), इत्यादि।

किन्तु (क) स्वतन्त्र स्वरित से पूर्व यदि कोई अनुदात्त वर्ण न हो तो उसको वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से ही चिह्नित किया जाता है, जैसे—त्र्यंम्बकं यजामहे (शु० य० सं० ३.६०); अवं देवं त्र्यंम्बकम् (शु० य० सं० ३.५८), इत्यादि।

(ख) यदि पूर्ववर्ती अर्धर्च के अन्त में स्वतन्त्र स्वरित हो और उत्तरवर्ती अर्धर्च के आदि में उदात्त अक्षर हो तो उस स्वतन्त्र स्वरित को वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से ही चिह्नित किया जाता है, जैसे—वरुथ्यः। वसुरग्निः (शु० य० सं० ३.२५), इत्यादि।

(३) मैत्रायणी तथा काठक संहिताओं में अनुदात्तपर, प्रचय-पर तथा अपर स्वतन्त्र स्वरित को वर्ण के नीचे एक अर्धचन्द्र (◡) के चिह्न से प्रदर्शित करते हैं, जैसे—वीर्याणि प्र[1] (मै० सं० १.२.९); वीर्यमस्मिन् (मै० सं० ३.२.८); व्रीहि (मै०सं० १.२.२६; काठ० सं० १.४); सोऽकामयत (मै० सं० २.५.११); निष्टक्र्यं बध्नाति (काठ० सं० २४.५), इत्यादि।

श्रोदर द्वारा सम्पादित 'काठक-संहिता' में स्वतन्त्र स्वरित के लिये वर्ण के नीचे एक वक्र चिह्न (c) है, जैसे—वीर्याणि[2] (काठ० सं० २.१०)।

---

१. 'मैत्रायणी-संहिता' तथा 'काठक-संहिता' में उदात्त को वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से चिह्नित किया जाता है। सम्भवतः, इनमें उदात्त को ही सर्वोच्च स्वर माना जाता है। स्वरित मध्यम स्वर है।

२. 'काठक-संहिता' में उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित से पूर्व अनुदात्त का कोई चिह्न नहीं मिलता।

(४) सामवेद (कौथुम) में स्वतन्त्र स्वरित को, यदि उसके पूर्व या पश्चात् कोई उदात्त वर्ण न हो, तो वर्ण के ऊपर २ र से प्रदर्शित करते हैं, जैसे—अ॒भ्यर्ति रेभन् (सा० वे० ५.४.२)। यदि उसके पूर्व उदात्त होगा तो वह २ के अङ्क से प्रदर्शित किया जाता है, जैसे—तृम्पा व्येश्नुही (सा० वे० २.७.७), इत्यादि।

(५) (क) अथर्ववेद (शौनक) में अनुदात्तपर, प्रचयपर तथा अपर स्वतन्त्र स्वरित को वर्ण के पश्चात् (ऽ) इस चिह्न से प्रदर्शित किया जाता है, जैसे—त॒न्वो॒ऽअ॒द्य (अ० वे० १.१.१); अ॒भीऽच्छात् (अ० वे० १२.३.२४); क॒न्याऽः (अ० वे० १.१४.२), इत्यादि।

राथ और ह्विटनी द्वारा सम्पादित अथर्ववेद के संस्करण में स्वतन्त्र स्वरित के लिये ऋग्वेद के ही समान वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा का ही चिह्न प्रयुक्त मिलता है।

(ख) अथर्ववेद (पैप्पलाद) में स्वतन्त्र स्वरित को सर्वत्र (∟) इस चिह्न से प्रदर्शित किया जाता है, जैसे—आ॒स्या॒य च (पै० अ० १६.१०४.६); वीर्य॑म् (पै० अ० १.६५.४), न्यक् (पै० अ० १.१११.१), इत्यादि।[1]

(६) 'शतपथ ब्राह्मण' में स्वतन्त्र स्वरित की सत्ता नहीं, क्योंकि यहां उनको उदात्त ही माना जाता है[2], इसलिये अपनी संहिता के समान इन के अङ्कन का कोई चिह्न नहीं।[3] वेबर, कलान्द, आदि पाश्चात्य विद्वानों का तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों का यह मत है कि स्वतन्त्र स्वरित से पूर्व वर्ण के नीचे एक या दो पड़ी रेखाओं से इसे चिह्नित किया जाता है। वेबर माध्यन्दिन 'शतपथ ब्राह्मण' में उसे दो रेखाओं से चिह्नित करता है, जैसे—वी॒र्यवन्तः (श० ब्रा० १.३.४.१); उ॒र्वन्त॒रिक्षम् (श० ब्रा० १.१.२.४)

---

१. पैप्पलाद-शाखा की 'अथर्ववेद-संहिता' में अनुदात्त को वर्ण के नीचे खड़ी रेखा से चिह्नित किया जाता है।

२. जात्याभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टाश्च। भा० परि० सू० १.१०; उदात्तमेतत्। भा० परि० सू० १.१३।

३. द्रष्टव्य, डा० व्रजबिहारी चौबे : 'शतपथ ब्राह्मण की स्वर प्रक्रिया' हिन्दी-संस्कृत स्टडीज् , राजस्थान विश्वविद्यालय पत्रिका, १९६८-६९, पृ० ६८।

इत्यादि। कलान्द 'काण्व शतपथ' में उसे स्वरित वर्ण से पूर्व एक पड़ी रेखा से चिह्नित मानता है, जैसे—किंदेवत्यानि (का० श० २.५. ३.१६); कुक्कुटोऽसि (का० श० २.१.३.२०), इत्यादि।

उदात्तस्वरितपर स्वतन्त्र स्वरिताङ्कन—

कम्प स्वर नामक अध्याय में इस बात का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है कि स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आने पर ही कम्प होता है, यद्यपि कुछ ऐसी भी शाखायें हैं, जिनमें कम्प नहीं होता। विभिन्न शाखाओं की संहिताओं में उस कम्प के अङ्कन की अनेक पद्धतियां प्रचलित हैं। जहाँ कम्प नहीं होता वहां भी उदात्तस्वरितपर स्वतन्त्र स्वरित को अनुदात्तपर, प्रचयपर तथा अपर स्वतन्त्र स्वरित से भिन्न प्रकार से ही चिह्नित किया जाता है।

(१) ऋग्वेद में स्वतन्त्र स्वरित को, यदि उसके बाद कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आवे तो, स्वरित-धर्मवान् वर्ण के आगे १ या ३ के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। यदि स्वतन्त्र स्वरित ह्रस्व वर्ण पर है तो उसे १ के द्वारा तथा यदि दीर्घ वर्ण पर है तो ३ के द्वारा दिखाते हैं, जैसे—अप्स्व१न्तः (ऋ० वे० १.२३.१९); प्रस्त्या३स्वा (ऋ० वे० १.२८.१०); यो३ह्यः (ऋ० वे० १०.१६४.४)। ह्रस्व स्वतन्त्र स्वरित और दीर्घ स्वतन्त्र स्वरित के अङ्कन में एक अन्तर यह भी है कि ह्रस्व स्वतन्त्र स्वरित वाले वर्ण पर कोई चिह्न नहीं रहता, जबकि दीर्घ स्वतन्त्र स्वरित वाले वर्ण के नीचे पड़ी रेखा का चिह्न रहता है, जैसे—प्रस्त्या३स्वा में त्या के नीचे अनुदात्त जैसा चिह्न है जबकि अप्स्व१न्तः में स्व के नीचे कोई चिह्न नहीं। ऋग्वेद में केवल एक उदाहरण ये१रा (ऋ० वे० १०.७८.४) मिलता है, जिसमें स्वतन्त्र स्वरित के दीर्घ वर्ण पर होने पर भी कम्प को १ के द्वारा दिखाया गया है। इसके दो ही कारण हो सकते हैं—या तो यह गलत पाठ हो, या ऋग्वेद की किसी शाखा में दीर्घ और ह्रस्व दोनों कम्पों को १ के द्वारा दिखाया जाता हो, जैसा 'तैत्तिरीय-संहिता' में दिखाया जाता है।

(२) ऋग्वेद (कश्मीर पाठ) में स्वतन्त्र स्वरित को, चाहे वह ह्रस्व हो या दीर्घ हो, उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर सर्वत्र ३ के द्वारा

दर्शाते हैं। यहां स्वरित वाले वर्ण के नीचे या ऊपर कोई चिह्न नहीं होता, जैसे— स॑न्ति ह्य३र्य॑ आशिष (खिल० ३.६.७)।[1]

(३) 'वाजसनेयि-संहिता' (माध्यन्दिन) तथा 'काठक-संहिता' में स्वतन्त्र स्वरित को उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर वर्ण के नीचे इस (‿) चिह्न से अङ्कित करते हैं, जैसे— उ॒र्व्वन्तरिक्षम् (वा० सं० १. ७); उर्व्वन्तरिक्षम् (काठ० सं० १. २); प्रसवेऽश्विनो (काठ० सं० १. २)।

(४) शुक्ल यजुर्वेद (काण्व) में स्वतन्त्र स्वरित को उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर वर्ण के नीचे पड़ी रेखा से चिह्नित करते हैं। जिस प्रकार सामान्य स्वरित उदात्त परे होने पर अनुदात्त में बदल जाता है, उसी प्रकार यहां स्वतन्त्र स्वरित भी, जैसे—वी॒र्य॒ मयि॑ धेहि (काण्व० २१.१.८)।

(५) 'तैत्तिरीय-संहिता' एवं उसके ब्राह्मण में स्वतन्त्र स्वरित को उदात्त परे होने पर वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से अङ्कित किया जाता है, जैसे—अ॒प्स्व॑न्तः (तै० सं० १.७.७)। किन्तु स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर प्रथम स्वतन्त्र स्वरित को वर्ण के ऊपर एक खड़ी रेखा तथा उसके आगे १ के द्वारा दर्शाया जाता है, चाहे स्वतन्त्र स्वरित ह्रस्व वर्ण पर हो, चाहे दीर्घ वर्ण पर, जैसे—ब॒हु॒दे॒व॒त्यो॑१ज्योष (तै० सं २.१.६)। कूश्माण्ड तथा स्वायम्भुव काण्ड में उदात्तपर स्वतन्त्र स्वरित को भी कम्प होता है। यहां उदात्तस्वरितपर स्वरिताङ्कन में बड़ी अव्यवस्था दिखाई पड़ती है। 'तैत्तिरीय-संहिता' के ही किसी-किसी संस्करण में कम्प को १ के द्वारा, किसी-किसी में ३ के द्वारा और किसी-किसी में ३ के द्वारा भी दिखाया गया है। 'तैत्तिरीय आरण्यक' में उदात्तपर स्वतन्त्र स्वरित को ऋग्वेद जैसा ३ इस चिह्न से अङ्कित किया जाता है। किसी-किसी संस्करण में स्वरित वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा का चिह्न मिलता है तो किसी में १ या ३ अङ्क के ऊपर। 'तैत्तिरीय-संहिता' उसके ब्राह्मण तथा आरण्यक का एक ऐसा संस्करण आवश्यक है जिसमें स्वरों की एकरूपता हो।

---

१. यहां भी उदात्त को मैत्रायणी-संहिता' के समान वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से प्रदर्शित किया जाता है। सम्भवतः यहां उदात्त सर्वोच्च स्वर है।

(६) 'मैत्रायणी-संहिता' में स्वतन्त्र स्वरित को, यदि उसके परे उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित हो तो, वर्ण के नीचे पड़ी रेखा और वर्ण से पूर्व अङ्क ३ से दर्शाते हैं, जैसे—अक्षित३व्यां न। श्रोदर ने 'मैत्रायणी-संहिता' के संस्करण में स्वरित वर्ण से पूर्व केवल ३ का अङ्क ही दिया है, वर्ण के नीचे पड़ी रेखा नहीं।

(७) 'कपिष्ठलकठ-संहिता' में स्वतन्त्र स्वरित को 'काण्व-संहिता' के समान वर्ण के नीचे पड़ी रेखा से चिह्नित किया जाता है। 'काण्व-संहिता' की तुलना में अन्तर केवल इतना ही है कि यहां स्वतन्त्र स्वरित यदि ह्रस्व पर है तो वह दीर्घ हो जाता है, जैसे—उर्वान्तरिक्षम् (कपि० सं० १.२); अप्स्वान्तः (कपि० सं० ४८.४)।

(८) (क) 'सामसंहिता' में अनुदात्त ह्रस्व या दीर्घ दोनों स्वतन्त्र स्वरितों को यदि उसके परे उदात्त स्वर हो तो कम्प होता है और उसको वर्ण के ऊपर २ तथा आगे ३ के अङ्क से चिह्नित करते हैं, जैसे—पाह्यू३ते (सा० वे० १.४.२)।

(ख) 'सामसंहिता' में उदात्तपूर्व ह्रस्व या दीर्घ दोनों स्वतन्त्र स्वरितों को उदात्त परे होने पर वर्ण के ऊपर २ के अङ्क से चिह्नित नहीं करते, केवल उसके आगे ३ का अङ्क लिखते हैं, जैसे—त्वं[२] ह्या३ङ्ग[१] (सा० वे० ६.९.६)।

(९) अथर्ववेद (शौनक) में ह्रस्व स्वतन्त्र स्वरित को, यदि उसके परे उदात्त हो तो, वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा तथा उसके आगे १ के अङ्क से चिह्नित करते हैं, जैसे—अप्स्व१न्तः (अ० वे० १.४.४)। यदि स्वतन्त्र स्वरित दीर्घ हो तो उसको ऋग्वेद के समान ही वर्ण के नीचे पड़ी रेखा तथा उसके आगे ३ के अङ्क से चिह्नित करते हैं, जैसे—कन्या३युवा न: (अ० वे० ११.५.१८)। युधिष्ठिर मीमांसक ने ह्रस्व स्वरित के लिये ऋग्वेद जैसा १ का चिह्न माना है (वै० स्व० मी० पृ० १३३), किन्तु अथर्ववेद के प्रकाशित ग्रन्थों में सर्वत्र १ यही चिह्न मिलता है और स्वरित वर्ण पर एक खड़ी रेखा का चिह्न।

(१०) अथर्ववेद (पैप्पलाद) में स्वतन्त्र स्वरित को, चाहे उसके परे उदात्त हो या स्वतन्त्र स्वरित हो, वर्ण के नीचे एक समकोण (∟) जैसे चिह्न से अङ्कित करते है, जैसे तन्वा शन्तमया (१४.२.८)।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वेदों में उदात्त-स्वरित-पर स्वतन्त्र स्वरित को जो कम्प होता है उसको उपलब्ध वैदिक संहिताओं में १ तथा ३ के द्वारा अथवा १ के द्वारा, अथवा २ के द्वारा अथवा ३ के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। यहां जो अङ्कों का प्रयोग किया जाता है, उसका भी विशेष उद्देश्य है।

कम्प स्वर को १ या ३ के द्वारा प्रदर्शित करने का रहस्य

'ऋग्वेद-संहिता' में कम्प को १ तथा ३ के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। जहां उदात्त-स्वरित-पर स्वतन्त्र स्वरित ह्रस्व वर्ण पर होता है वहां कम्प को १ के द्वारा तथा जहां दीर्घ पर होता है वहाँ ३ के द्वारा दिखाया जाता है। ह्रस्व कम्प को १ तथा दीर्घ कम्प को ३ के द्वारा क्यों दिखाया जाता है? वस्तुतः, यहां कम्प स्वर को दिखाने के लिये जो १ या ३ अङ्कों का प्रयोग किया जाता है, वह उसके अनुदात्तांश को बताने के लिये किया जाता है। प्रथम अध्याय में हमने इस बात का विस्तार में विवेचन किया है कि स्वतन्त्र स्वरित में उदात्तांश भी होता है और अनुदात्तांश भी। अनुदात्त या प्रचय परे होने पर अनुदात्तांश की उदात्तश्रुति होती है, किन्तु उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर उसकी उदात्तश्रुति न होकर अनुदात्तश्रुति होती है। ह्रस्व स्वरित में एक-मात्राकाल होता है, जिसमें प्रथम अर्धमात्राकाल का उदात्तांश होता है और द्वितीय अर्धमात्राकाल का अनुदात्तांश होता है। एक मात्रा के दो अर्ध हुये एक अर्ध उदात्तांश और द्वितीय अर्ध अनुदात्तांश। इसी को प्रदर्शित करने के लिये ह्रस्व कम्प को ऋग्वेद में १ के द्वारा दिखाया जाता है, जैसे—अप्स्व १ न्तः। दीर्घ स्वरित में दो मात्रायें अर्थात् चार अर्ध मात्रायें होती है। प्रथम अर्धमात्रा उदात्तांश होती है और शेष तीन अर्धमात्राकाल का अनुदात्तांश होता है। दीर्घ कम्प में अनुदात्तांश चूंकि तीन अर्धमात्राकाल का होता है, इसलिये उसे ३ के अङ्क द्वारा दिखाया जाता है, जैसे—प्रस्त्या ३ स्वा। प्लुत वर्ण के उच्चारण में तीन मात्राकाल लगता है, अर्थात् उसमें ६ अर्धमात्रायें होती हैं। यदि कम्प स्वर प्लुत स्वर पर हो तो उसमें प्रथम अर्धमात्राकाल उदात्तांश होगा और शेष ५ अर्धमात्राकाल का अनुदात्तांश होगा। किन्तु ऋग्वेद में कोई भी ऐसा उदात्त-स्वरित-पर स्वतन्त्र स्वरित नहीं मिलता जो प्लुत वर्ण पर हो। इसीलिये ऋग्वेद में कम्प के लिये ५ इस अंक का प्रयोग नहीं किया गया है।

ऋग्वेद में इस स्वर-चिह्न का एक ही व्यत्यय मिलता है—ये १ रा (ऋ० वे० १०.७८.४), जहां दीर्घ कम्प को १ के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यहां ऋग्वेद में प्रचलित कम्प-स्वराङ्कन-प्रकार के अनुसार ३ चिह्न होना चाहिये था, किन्त किसी भी पाठ में यहाँ ३ यह चिह्न प्रयुक्त नहीं है। सम्भवतः ऋग्वेद की कोई एक ऐसी शाखा थी, जिसमें कम्प स्वर को सर्वत्र चाहे वह ह्रस्व हो या दीर्घ हो १ इस चिह्न के द्वारा दिखाया जाता होगा। उस शाखा में स्वरित के अवयवभूत उदात्तांश और अनुदात्तांश को बराबर-बराबर माना जाता होगा।

१ और ३ द्वारा कम्प स्वर को प्रदर्शित करने में दोनों अवस्थाओं में अंक के ऊपर स्वरित का चिह्न तथा नीचे अनुदात्त का चिह्न होता है। अंक के ऊपर जो स्वरित का चिह्न होता है वह इस बात का सकेत करता है कि इससे पूर्व उदात्तांश है। उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित होता है। अंक के नीचे जो अनुदात्त का चिह्न होता है वह इस बात का संकेत करता है कि उसके परे उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित स्वर है। एक ही अंक पर स्वरित और अनुदात्त का चिह्न इस बात का संकेत करता है कि यहां स्वतन्त्र स्वरित के उच्चारण में कम्पन होती है।

१ और ३ के द्वारा कम्प को प्रदर्शित करने में एक अन्तर यह है कि १ से पूर्ववर्ती स्वरित वर्ण को अचिह्नित छोड़ दिया जाता है, किन्तु ३ से पूर्ववर्ती स्वतन्त्र स्वरित वर्ण को उसके नीचे एक पड़ी रेखा से चिह्नित किया जाता है। इस अन्तर का कारण क्या है, इसके विषय में न तो प्रातिशाख्य कुछ बताते हैं और न शिक्षा-ग्रन्थ ही, और न परवर्ती वैयाकरण ही। ह्रस्व कम्प में स्वरित वर्ण को अचिह्नित क्यों छोड़ दिया जाता है और दीर्घ कम्प में उसको चिह्नित क्यों किया जाता है, इसका जहां तक मैं समझता हूं, एक ही कारण है। ह्रस्व कम्प में उदात्तांश और अनुदात्तांश बराबर-बराबर होते हैं। उदात्त और अनुदात्त जब बराबर-बराबर होते हैं तो उनमें उदात्त की प्रधानता होती है। यही कारण है कि ह्रस्व कम्प में पूर्व उदात्तांश की प्रधानता होने के कारण उसको उदात्त ही मान लिया जाता है। चूंकि ऋग्वेद में उदात्त के लिए कोई चिह्न नहीं, इसलिये उसे अचिह्नित छोड़ दिया जाता है। दीर्घ कम्प में उदात्तांश तो अर्धमात्राकाल का ही होता है, किन्तु अनुदात्तांश $1\frac{1}{2}$ मात्रा-

काल का अर्थात् पूरे का तीन-चौथाई होता है। इस प्रकार अनुदात्तांश की मात्रा उदात्तांश की अपेक्षा अधिक होने के कारण स्वतन्त्र स्वरित वाले वर्ण को उसके नीचे अनुदात्त से अंकित किया जाता है।

दीर्घ कम्प स्वर के अंकन की एक विशेषता यह भी है कि इसमें ३ से पूर्व स्वतन्त्र स्वरित वाले वर्ण के नीचे अनुदात्त के चिह्न के साथ उससे पूर्ववर्ती वर्ण को भी, यदि वह उदात्त नहीं है तो, अनुदात्त के चिह्न से चिह्नित किया जाता है, जैसे—वरुणः पुरस्त्या ३ स्वा (ऋ० वे० ६. २५.१०)। यहां 'प' के नीचे जो अनुदात्त का चिह्न है वह इस बात का संकेत करना है कि त्या के नीचे जो अनुदात्त है वह सामान्य अनुदात्त नहीं; इसमें उदात्तांश भी है।

कम्पस्वर को १ या २ के द्वारा प्रदर्शित करने का रहस्य

'तैत्तिरीय-संहिता' में स्वतन्त्र स्वरित चाहे ह्रस्व वर्ण पर हो, चाहे दीर्घ वर्ण पर, सर्वत्र कम्प को १ इस चिह्न से ही अङ्कित किया जाता है। किसी-किसी संस्करण में २ अङ्क का भी प्रयोग किया गया दिखाई पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि 'तैत्तिरीय-संहिता' में ह्रस्व और दीर्घ दोनों कम्पों के लिये जो १ इस चिह्न का प्रयोग किया जाता है, वह स्वरित के अवयवभूत उदात्तांश को दिखाने के लिये ही किया जाता है। 'अथर्ववेद-संहिता' (शौनक) में ह्रस्व कम्प के लिये १ इस चिह्न का प्रयोग किया जाता है। 'तैत्तिरीय-संहिता' और 'अथर्ववेद-संहिता' दोनों में अङ्क के ऊपर स्वरित का चिह्न न लगा कर स्वतन्त्र स्वरित वाले वर्ण पर ही लगाते हैं। ऐसा मालूम होता है कि अचिह्नित स्वतन्त्र स्वरित के साथ उदात्त का संदेह न हो इसलिये उस संदेह के निवारणार्थ उस स्वरित वर्ण पर ही स्वरित का चिह्न लगाते हैं।

कम्प स्वर को ३ के द्वारा प्रदर्शित करने का रहस्य

'सामवेद-संहिता' तथा 'मैत्रायणी-संहिता' कम्प को, चाहे ह्रस्व हो चाहे दीर्घ, ३ के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि सामवेद में स्वतन्त्र स्वरित वाले वर्ण के बाद ३ का अङ्क लगाते हैं, जबकि 'मैत्रायणी-संहिता' में उससे पूर्व, जैसे— क्व३ २स्य (सा० वे० २.१४.२); अक्षित३व्यार्न (मै० सं० ४.२.९)। दोनों में स्वरित वाले वर्ण पर अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है। सामवेद तथा मैत्रायणी-

संहिता में कम्प को ३ के द्वारा प्रदर्शित करने का कारण वही है जो ऋग्वेद के दीर्घ कम्प को प्रदर्शित करने का। यहां ह्रस्व कम्प नहीं होता, ह्रस्व को भी दीर्घ कर दिया जाता है। ऋग्वेद (कश्मीर पाठ) में ३ के ऊपर स्वरित का चिह्न इस लिये नहीं लगाया जाता कि यहां स्वरित अचिह्नित रहता है।

२. सामान्य स्वरित के अङ्कन का प्रकार

(१) 'ऋग्वेद-संहिता' (शाकल) 'अथर्ववेद-संहिता' (शौनक), 'वाजसनेयि-संहिता' (काण्व और माध्यन्दिन), 'तैत्तिरीय-संहिता' (ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्-सहित) तथा 'कपिष्ठलकठ-संहिता' में सामान्य स्वरित को वर्ण के ऊपर एक खड़ी रेखा (꠲) से चिह्नित किया जाता है, जैसे—इन्द्रः।

(२) (क) कृष्ण यजुर्वेद की 'मैत्रायणी-संहिता' में सामान्य स्वरित को वर्ण के नीचे समकोण जैसे चिह्न (∟) से अङ्कित किया जाता है, यदि उसके परे कोई वर्ण न हो अथवा प्रचय हो, जैसे—य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति (मै० सं० १.८.६)।

(ख) यदि सामान्य स्वरित के ठीक बाद कोई अनुदात्त वर्ण हो तो उस स्वरित को वर्ण के नीचे (‿) इस चिह्न से अङ्कित करते हैं, जैसे—चक्षुषे स्वाहा (मै० सं० ३.१२.१०)।

(३) 'काठक-संहिता' में सामान्य स्वरित के लिये किसी चिह्न का प्रयोग नहीं मिलता, वह अचिह्नित ही रहता है, जैसे — इषे त्वोर्ज त्वा (काठ० सं० १. १)।

(४) ऋग्वेद के खिलसूक्तों में सामान्य स्वरित के लिये कोई चिह्न नहीं। उसे अचिह्नित ही छोड़ दिया जाता है।

(५) (क) सामवेद में सामान्य स्वरित को वर्ण के ऊपर अङ्क २ के चिह्न से प्रदर्शित किया जाता है, जैसे — अ॒ग्न॒ आ॑ या॑हि (सा० वे० १.१.१)।

(ख) अनेक उदात्तों के बाद आने वाले स्वरित को वर्ण के ऊपर २ र से प्रदर्शित किया जाता है, जैसे—अ॒ग्ने॑ क॒स्तं सं॑पर्य॒ति (सा० वे० २.५.८)।

६. अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा की संहिता में सामान्य स्वरित का निर्देश वर्ण के नीचे एक बिन्दु लगाकर किया जाता है, जैसे—शंन्तमया (पं० सं० १४.२.८)।

७. 'मैत्रायणीय आरण्यक' में सामान्य स्वरित को ऋग्वेद के सामान्य स्वरित जैसा वर्ण के ऊपर एक खड़ी रेखा से अङ्कित किया जाता है।

नाम एवं विषयानुक्रमणिका

ऊ

ऋ

श

स

